

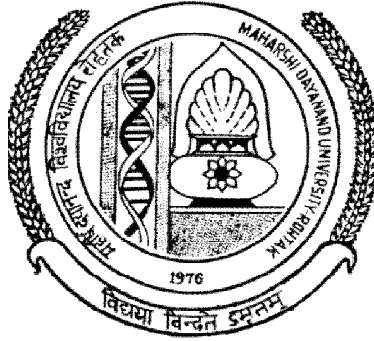
एम.ए.राजनीति शास्त्र—द्वितीय सेमेस्टर

Semester – II

Paper Code – 20POL22C8

पेपर III

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति-II



DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK

(A State University established under Haryana Act No. XXV of 1975)

NAAC 'A+' Grade Accredited University

Material Production

Content Writer: *Dr.* _____

Copyright © 2020, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

ISBN :

Price : Rs. 325/-

Publisher: Maharshi Dayanand University Press

Publication Year : 2021

SYLLABUS SECOND SEMESTER

Paper-VIII International Politics-II

Unit-I

Globalization, New International Economic order, North-South Dialogue, South-South Co-operation.

Unit-II

Neo-Colonialism and Dependency Theory, Conflict resolution, World Bank and Politics of Environment.

Unit-III

Regional Co-operation, European Community, SAARC, ASEAN, OPEC and OAS, Arms Control and Disarmament.

Unit-IV

India's role in International Politics

India's Relations with its neighbours.

Distinguishing features of Indian Foreign Policy and Diplomacy.

विषय सूची

इकाई—I

1. वैश्वीकरण 5—11
2. नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था 11—21
3. दक्षिण—दक्षिण सहयोग 22—30
4. विश्व व्यापार संगठन 31—37

इकाई—II

5. नव—उपनिवेशवाद 38—44
6. निर्भरता का सिद्धान्त 45—53
7. संघर्ष समाधान 54—62
8. विश्व बैंक 63
9. पर्यावरण की राजनीति 64

इकाई—III

10. क्षेत्रीय सहयोग 65—70
11. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन 71—78
12. दक्षिण—पूर्वी एशियाई राष्ट्रों का संगठन 79—84
13. एशिया—प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग 85—88
14. अमेरिकी राज्यों का संगठन 89—92
15. शस्त्र—नियंत्रण और निःशस्त्रीकरण 93—112

इकाई—IV

16. भारत की विदेश नीति 113—127
17. भारत के पड़ोसियों से सम्बन्ध 128—154

वैश्वीकरण

अध्याय का ढांचा

1.1 प्रस्तावना

1.1.1 अध्याय के उद्देश्य

1.2 वैश्वीकरण का अर्थ

1.3 विशेषताएं

1.4 ऐतिहासिक विकास

1.5 मूल्यांकन

1.5.1 पक्ष में तर्क

1.5.2 विपक्ष में तर्क

1.6 सारांश

1.7 प्रश्नावली

1.8 पाठन सामग्री

1.1 प्रस्तावना

वैश्वीकरण की अवधारणा वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा है। 1990 में साम्यवाद के पतन ने एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था को जन्म दिया। अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एकमात्र नियामक बन गया। उसने ब्रिटेन के साथ मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की दिशा में प्रयास शुरू किया, 1990 के दशक में ब्रिटेनवुड व्यापार प्रणाली के स्थान पर बहुराष्ट्रीय निगमों का विस्तार होने लगा। इस दौरान यूरोपीय अर्थव्यवस्था सांझे बाजार से निकलकर यूरोपियन संघ के रूप में परिवर्तित हो गई। प्रशान्त क्षेत्र तथा दक्षिण पूर्व एशिया में भी ऐसी ही आर्थिक व्यवस्थाएं उत्पन्न हुईं। न्यूयॉर्क, टोक्यों, और लन्दन में वित्तीय एवं प्रतिभूति बाजारों का उद्भव क्षेत्रीय एवं अन्तर क्षेत्रीय गठबन्धन के जरिए होने लगा। अब स्थानीय व राष्ट्रीय बाजारों का स्थान अंतर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था ने ले लिया। पुरानी मौद्रिक प्रणाली का अन्त हो गया। नई मौद्रिक प्रणाली के जन्म ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया और नई उदारवादी आर्थिक प्रणाली के जन्म ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया और नई उदारवादी आर्थिक प्रणाली की स्थापना का रास्ता साफ कर दिया। आज आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियां घरेलू क्षेत्र से निकलकर विश्व क्षेत्र में प्रवेश करने लगी हैं। आज उदारीकरण तथा निजीकरण के दौर में बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का नारा महत्वपूर्ण हो गया है। अब अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की संस्थाएं – अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व व्यापार संगठन अधिक महत्वपूर्ण हो गई हैं। ये सब वैश्वीकरण के ही लक्षण हैं जो 1990 से शुरू होकर आज अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके हैं।

1.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य शीतयुद्धोत्तर युग में स्थापित वैश्वीकरण की प्रक्रिया से अवगत करना है। इसके माध्यम से प्रयास किया गया है कि सन् 1991 के बाद प्रचलित वैश्वीकरण से क्या अभिप्राय है तथा इसकी क्या-क्या विशेषताएं हैं। इसकी उपयोगिता के पक्ष व विपक्ष में तर्क के माध्यम से इसकी प्रासांगिता जानने का प्रयास किया गया है। यह आंकलन इसके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव, विशेषकर विकासशील देशों की स्थिति के सन्दर्भ में, जानने का प्रयास किया गया है।

1.2 विश्वीकरण का अर्थ

इसे भूमण्डलीकरण भी कहा जाता है। यह प्रक्रिया वस्तुतः व्यापारिक क्रिया-कलापों के अंतर्राष्ट्रीयकरण की द्योतक है जिसमें सम्पूर्ण विश्व बाजार को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जाता है। यह राष्ट्रीय बाजारों को विश्व बाजार में बदलने की प्रक्रिया है। इससे विश्व बाजारों में पारस्परिक निर्भरता में बदलने की प्रक्रिया है। इससे विश्व बाजारों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है और व्यापार राष्ट्रीय सीमाओं से निकलकर विश्व व्यापार की ओर बढ़ने लगता है। यह राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार वस्तुओं एवं सेवाओं के आदान-प्रदान की प्रक्रिया है, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय निगमों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ विद्वान सम्पूर्ण संसार को एक भूमण्डलीय गांव मानने की अवधारणा को ही वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण कहते हैं।

“वैश्वीकरण संकीर्ण राष्ट्रीय व्यापारिक हितों के स्थान पर विस्तृत अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक हितों की स्थापना का नाम है। इसमें सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक हो जाता है।”

“वैश्वीकरण से तात्पर्य राष्ट्रीय बाजारों को अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में परिवर्तन करना है। इसमें विश्व व्यवस्था में आया खुलापन तथा आपसी निर्भरता का विस्तार भी शामिल है।”

एडवर्ड एस. हरमन के अनुसार, “वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के फैलाव की सक्रिय प्रक्रिया भी है तथा साथ ही आर्थिक सम्बन्धों की एक संरचना भी है जिसका निरन्तर विकास हो रहा है।”

“अपने व्यापक अर्थ में वैश्वीकरण केवल शुद्ध आर्थिक प्रक्रिया नहीं है, अपितु यह तो विश्व के सभी भागों में बहने वाले लोगों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक संबंधों के विकास की व्यापक प्रक्रिया है।”

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण अंतर्राष्ट्रीयवाद को दर्शाने वाली एक प्रक्रिया है। इसमें विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनको बनाए रखने के प्रयास भी शामिल हैं। इसके अंतर्गत राष्ट्रीय हितों का अंतर्राष्ट्रीयकरण किया जाता है ताकि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को उद्देश्य प्राप्त करने में सुविधा रहे। इसका आधार मुक्त विश्व व्यापार व्यवस्था है। इसी पर सभी तरह के सम्बन्ध आधारित होते हैं।

1.3 विशेषताएं

बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती भूमिका ने पूंजी व मुद्रा पर लगे नियंत्रण तोड़ दिए हैं और मुक्त व्यापार को बढ़ावा दिया है। उनका कहना है कि इससे विकास दर में वृद्धि होगी, निर्धनता में कमी आएगी और विकासशील देशों का कल्याण होगा। इसलिए उन्होंने विश्व व्यापार संगठन का निर्माण किया है और अर्थव्यवस्था को बाजारोन्मुख बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की भूमिका में बदलाव की अपेक्षा की है। जिस नए प्रकार की व्यवस्था की ओर हम जा रहे हैं, उसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. श्रम बाजार अंतर्राष्ट्रीय हो गया है। 1965 में 71.5 करोड़ व्यक्ति रोजगार की दृष्टि से दूसरे देशों में प्रवाहित

हुए थे। अब यह संख्या 121.5 करोड़ तक पहुंच गई है।

2. आज विज्ञान प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व के देशों में भौगोलिक दूरियों को कम कर दिया है। इसके न केवल व्यापार, तकनीकी एवं सेवा क्षेत्र बल्कि आवागमन को भी सरल एवं सस्ता बना दिया है। आज कम्प्यूटर तथा इंटरनेट तेजी से दुनिया को जोड़ रहे हैं।
3. श्रम बाजार की मांगों को पूरा करने के लिए कई व्यवस्थित माध्यम तैयार हो गए हैं। आज श्रम एजेंटों की सक्रियता से श्रमिकों का अवैध या वैध व्यापार हो रहा है। श्रम आज तक देशों में पुराने प्रवासियों के नेटवर्क के कारण नए प्रवासियों को मार्ग दर्शन मिल रहा है।
4. इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रचार के कारण ग्लोबल संस्कृति का विकास हुआ है। पाप संगीत, हॉलीवुड फिल्म, जीन्स, टी शर्ट आज की युवा पीढ़ी की संस्कृति है जो विश्व के प्रत्येक देश में पाई जाती है। आज विश्व में उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ है। आज भ्रष्टाचार तथा अपराधों की प्रवृत्ति व उन्हें रोकने के तरीके समान हैं। आज आतंकवाद का स्वरूप भी अंतर्राष्ट्रीय हो गया है।
5. आज बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रोजगार प्रदायक की हो गई है। पहले ये केवल उत्पादित वस्तुओं, सेवाओं, तकनीक आदि की ही आवाजाही के साधन थे, आज विश्व में व्यापार विशेषज्ञों, प्रबन्धकों, कुशल-अकुशल श्रमिकों की नियुक्ति इन्हीं के द्वारा की जाती है। ये श्रम प्रवाह का सबल साधन है।
6. आज शिक्षा का भूण्डलीकरण हो गया है। आज अमेरिका जैसे विकसित देशों में उच्च शिक्षा के लिए जो विद्यार्थी जाते हैं, वहीं पर रोजगार प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी तरफ आज शिक्षा संस्थानों का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। किसी भी देश से शिक्षा प्राप्त व्यक्ति कहीं भी किसी भी देश में रोजगार प्राप्त कर सकता है।
7. आज ब्रेनड्रेन की समस्या अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की हो गई है। पहले की तुलना में आज डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षाविद् तथा वैज्ञानिक अधिक मात्रा में विदेशों की तरफ आकर्षित हो रहे हैं। आज विदेश आवागमन पहले की तुलना में अधिक आसान हो गया है।

1.4 ऐतिहासिक विकास

आज वैश्वीकरण की अवधारण इतनी विकसित हो चुकी है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यह अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों की प्रमुख भाषा बन गई है। यह कोई नवीन अवधारणा नहीं है। इसके बीच 1870 के आस-पास भी मिलते हैं। उस समय भी आज की अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था जैसे लक्षण स्पष्ट रूप से मौजूद थे। आज जो देश ओ.ई.सी.डी. (आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन) में शामिल हैं, उन सभी प्रमुख 16 औद्योगिक देशों का सकल घरेलू उत्पादन वर्ष 1900 में 18.2 प्रतिशत था और 1913 में 21.2 प्रतिशत हो गया था। विदेशी निवेश का भी यही हाल था। विश्व उत्पाद का 9 प्रतिशत हिस्सा निवेश में लगा हुआ था। स्थिर कीमतों पर यह निवेश 1980 के निवेश का 4/5 भाग था, अंतर्राष्ट्रीय बाजार की स्थितियां भी एक जैसी थी, उन दिनों दो देशों के बीच सामान, पूंजी और श्रम के आवागमन पर कोई रोक नहीं थी, यातायात के साधनों के विकास ने अर्थव्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिए थे। उद्योगों में नई-नई प्रबन्ध तकनीकों का प्रयोग हो रहा था, उन दिनों ब्रिटेन का विश्व के अनेक देशों पर आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व था, पाउण्ड स्टर्लिंग अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा की भूमिका निभा रहा था। श्रमिकों का अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह हो रहा था। 1830 से 1880 तक 5 करोड़ श्रमिकों का विदेशों में प्रवाह हुआ। 1914 तक यह प्रवास 6 करोड़ तक पहुंच गया। द्वितीय विश्वयुद्ध तक इसमें अधिक वृद्धि नहीं हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आई अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के प्रयास हुए। अमेरिका ने इस व्यवस्था को अपने हाथ में लेकर अंतर्राष्ट्रीय मेलजोल के संदर्भ में स्वतन्त्र व्यापार को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अपने प्रयास तेज कर दिए। उनके प्रयासों के परिणाम स्वरूप पुरानी अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक

प्रबन्धन की प्रणाली नई अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में बदल गई। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संवर्द्धन, आर्थिक विकास और विश्व के विकसित बाजारों के बीच राजनीतिक सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस नई व्यवस्था को ब्रिटेनवुड व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। इसके बाद बहुराष्ट्रीय निगमों तथा क्षेत्रीय आर्थिक उप-व्यवस्थाओं ने विश्व बाजार की तरफ अर्थव्यवस्थाओं को प्रवाहित कर दिया। 1990 के दशक में यूरोपीय व्यवस्था यूरोपीयन संघ में बदल गई। एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। इस तरह क्षेत्रीय तथा अन्तर क्षेत्रीय गठबन्धन के जरिए भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तेज होने लगी। आज बहुराष्ट्रीय निगम अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आज भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण अपने चरम लक्ष्य के काफी समीप पहुंच गया। विश्व बाजार तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं इसके विकास में वैश्वीकरण अपने चरम लक्ष्य के काफी समीप पहुंच गया। विश्व बाजार तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया का नियंत्रण अमेरिका, ब्रिटेन आदि विकसित देशों के हाथ में है।

1.5 मूल्यांकन

1.5.1 पक्ष में तर्क

वैश्वीकरण के समान इसके पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह विश्व के सभी लोगों के लिए विकास प्राप्त कर सकता है, तथा उन्हें लगातार कायम रहने वाले विकास के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता कर सकता है। महासचिव कोफी अन्नान ने अपने भाषण के शीर्षक – “हम दुनिया के लोग : 21 वीं शताब्दी में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका” में कहा कि वैश्वीकरण के लाभ स्पष्ट हैं – अधिक तेज गति से विकास, रहन-सहन का उच्चतर स्तर, देशों और व्यक्तियों के लिए नए-नए अवसर। इसके लिए हमें इसमें अपना महत्वपूर्ण योगदान देना चाहिए। श्रम मानदण्ड न्यायोचित होने चाहिए, मानवाधिकारों का आदर किया जाना चाहिए और पर्यावरण की सुरक्षा करनी चाहिए।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व अर्थव्यवस्था की कई रुकावटें दूर कर दी हैं। इससे व्यापार में खुलापन आया है और विदेशी निवेश के प्रति उदारता में वृद्धि हुई है। इसके कारण वित्तीय व व्यापार क्षेत्र में उदार नीतियों का निर्माण किया गया है। आज जेट विमान, उपग्रह, इंटरनेट की वजह से देशकाल की सीमाएं अर्थहीन हो गई हैं। आज अंतर्राष्ट्रीय बाजार का उदारीकरण हो गया है। राष्ट्रीय सम्प्रभुताएं सीमाविहीन होने लगी हैं। दुनिया सिकुड़कर एक विश्व ग्राम बन गई है। इसने विश्व अर्थव्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए हैं। आज विश्व व्यापार पर अंतर्राष्ट्रीय निगमों का ही कब्जा हो गया है। 1970-90 के दौरान विश्व के सकल घरेलू उत्पादन में विश्व व्यापार की भागेदारी 12 प्रतिशत से बढ़कर 18 प्रतिशत हो गई है। 1980-1996 के दौरान प्रत्यक्ष पूंजी निवेश 4.8 प्रतिशत से बढ़कर 10.6 प्रतिशत हो गया है। इस दौरान अंतर्राष्ट्रीय वित्त क्षेत्र का भी विकास हुआ है। विदेशी मुद्रा बाजार का विकास चौंकाने वाला है। 1983 में प्रतिदिन विदेशी मुद्रा बाजार का विकास चौंकाने वाला है। 1983 में प्रतिदिन विदेशी मुद्रा बाजार में 60 अरब डॉलर का लेन देन होता था जो 1996 में 1200 अरब डॉलर तक पहुंच गया।

इस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण सम्प्रभुता, स्वायत्तता और स्वतन्त्रता की संकीर्ण परिभाषाएं सिकुड़ गई हैं। संचार क्रांति और वैश्वीकरण ने जातीयता को गतिशील बना दिया है। आज विश्व का प्रत्येक देश एक दूसरे के काफी पास आ गया है। भौगोलिक दूरियां समाप्त हो गई हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध नए रूप में पेश हुआ है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति व देश को आर्थिक विकास में भागेदारी के अवसर प्रदान किए गए हैं। इसलिए अधिक तेज आर्थिक विकास तथा विकास के नए अवसर प्रत्येक को प्रदान करने के लिए भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण बहुत अधिक जरूरी है।

1.5.2 विपक्ष में तर्क

यद्यपि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व के देशों को कुछ लाभ भी पहुंचाया है, लेकिन उसने लोगों को नकारात्मक रूप में अधिक प्रभावित किया है। इसके लाभ न्यायोचित व समान नहीं हैं। विश्व बाजार अब तक सहभागी सामाजिक लक्ष्य पर आधारित नहीं हो सकता है। इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं –

1. वैश्वीकरण कमजोर देशों के लिए हानिकारक है। पार-सीमा व्यापार तथा निवेश कमजोर देशों के आर्थिक हित में नहीं है। यह इन देशों में लोकतन्त्रीय नियंत्रण को शिथिल कर देता है। इसमें आर्थिक सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्धों पर भारी पड़ते हैं। इसमें मुक्त व्यापार तथा सुरक्षावाद के बीच टकराव पैदा हो जाता है।
2. वैश्वीकरण विकसित देशों के हितों का पोषक है। बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विकसित देशों के हितों के संवर्द्धन में ही कार्य करती है। इसके कारण उत्पादकता तथा निवेश दरें काफी गिरी हैं। बढ़े हुए वित्तीय प्रवाह ने पूंजी बाजारों में अधिक तरलता तथा वास्तविक ब्याज दरों को काफी ऊँचा किया है। इससे शेयरों की खरीद तथा सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला है। इस प्रक्रिया ने विकसित देशों को ही ज्यादा लाभ पहुंचाया है, विकासशील देशों को नहीं।
3. इसने विकसित और विकासशील देशों के बीच आय की असमानता को बढ़ा दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने कम वेतन पर ही अच्छा कारोबार करके विकसित देशों को अधिक लाभ पहुंचाया है। 1960 में यह अन्तर 30:1 का था, जो अब 82:1 का हो गया है। इसी कारण विकासशील देश पूंजी पलायन का सहन करके भी विदेशी पूंजी निवेश को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं।
4. इसने विकासशील देशों पर ऋणों के भार को बढ़ा दिया है और इससे विश्व में वित्तीय संकट आने की संभावना बढ़ गई है।
5. वैश्वीकरण का संस्थागत ढांचा भी भेदभावपूर्ण है। इसमें एक तरफ तो व्यापार तथा पूंजी प्रवाह को मुक्त आधार प्रदान किया गया है और दूसरी तरफ तकनीक तथा श्रम प्रवाह को रोका जा रहा है। विकसित देशों की तो यह इच्छा है कि विकासशील देश अपने बाजारों को उनके लिए खोल दें लेकिन तकनीकी हस्तांतरण की मांग न करें।
6. यह प्रक्रिया राष्ट्रीय सम्प्रभुता का हनन करती है। विश्व व्यापार संगठन के दायरे में राष्ट्रीय सम्प्रभुता के विषय भी आ गए हैं। वैश्वीकरण किसी राष्ट्र की आर्थिक गतिवधियों और सामाजिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करने में सक्षम है।
7. इससे स्थानीय व्यापारिक हितों को अधिक हानि हो रही है। इसने स्थानीय व्यापारिक निगमों को बहुराष्ट्रीय निगमों का पिछलग्गू बना दिया है।
8. यह नव-उपनिवेशवाद को मजबूत बना रहा है। मौजूदा विश्व आर्थिक संस्थाएं विकसित देशों को लाभ पहुंचा रही हैं और विकासशील देशों का शोषण कर रही हैं।

इस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विकासशील देशों को ही अधिक नुकसान पहुंचाया है। इसने लोकतंत्र को कमजोर किया है। इसने आर्थिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति पर हावी कर दिया है। इससे बहुराष्ट्रीय निगम विकसित देशों के हितों में कार्य करने वाली संस्था बन गए हैं। इसमें अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन एवं विश्व बैंक विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं को सुदृढ़ करने की दिशा में ही कार्य कर रहे हैं। आज अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौते विशिष्ट व्यापारिक वर्ग के हितों के पोषक हो गए हैं, इसने विकसित देशों के उद्योगों की तो सुरक्षा की है, लेकिन विकासशील देशों के उद्योगों को पतन की ओर धकेल दिया है। इसने

विकसित तथा विकासशील देशों में आय के अन्तर को अधिक बढ़ा दिया है।

इन कमियों के बावजूद भी यह कहा जा सकता है। कि इस प्रक्रिया ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ और इससे संबंधित आर्थिक संस्थाओं की भूमिका के महत्व को बढ़ा दिया है। इसमें अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया है। इसलिए आवश्यकता इसको समाप्त करने की नहीं है, बल्कि आवश्यकता इसके संकीर्ण लक्ष्यों को समाप्त करने की है। इसके लिए मुक्त व्यापार नीतियों को दबाव मुक्त बनाया जाना चाहिए। आज विश्व व्यापार संगठन के विश्वव्यापी खतरों से निपटने के लिए काफी सहयोगी की आवश्यकता है। इसलिए इसके आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दुष्प्रभावों को समाप्त करके अंतर्राष्ट्रीय विकास एवं समृद्धि की प्रक्रिया के रूप में इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाए। इससे विश्वीकरण के लाभ विकासशील देशों को भी मिलने लगेंगे और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में एक नए युग की शुरुआत होगी।

1.6 सारांश

शीतयुद्धोत्तर युग में साम्यवादी युग की समाप्ति के बाद वैश्वीकरण की विचारधारा को एकमात्र विकल्प के रूप में देखा गया। इसके अन्तर्गत उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण का नारा देकर दुनियाँ में मुक्त बाजार व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीवाद का वैश्वीक स्वरूप स्थापित किया। इसमें मूलतः पूंजी के वर्चस्व को स्थापित करने पर बल दिया गया। परन्तु तीन दशकों के उपरान्त जहां एक ओर पूंजीपती देश इसके समर्थन में खड़े हैं वहीं विकासशील देशों में विरोधी तर्क भी दिए जा रहे हैं। परन्तु इस गैर-ध्रुवीकृत विश्व व्यवस्था एवं अराजकता वाले राजनीतिक पर्यावरण में इन दोनों पक्षों में किस प्रकार समन्वय स्थापित होकर मानवीय सरोकारों का महत्व बढ़ेगा यह कहना अभी कठिन है।

1.7 प्रश्नावली

1. वैश्वीकरण की अवधारणा से आपका क्या अभिप्राय है। इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. वैश्वीकरण प्रक्रिया की उपयोगिता के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. वैश्वीकरण प्रक्रिया से होने वाले दुष्प्रभावों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. वैश्वीकरण प्रक्रिया के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों का अंकिलन कीजिए।
5. वैश्वीकरण प्रक्रिया किस प्रकार से विकासशील देशों की आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रभावित कर रही है? टिप्पणी करें।

1.8 पाठन सामग्री – वहीं, अध्याय –1

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्ट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, डॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था

अध्याय का ढांचा

2.1 प्रस्तावना

2.1.1 अध्याय के उद्देश्य

2.2 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ

2.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्त

2.4 ऐतिहासिक विकास

2.5 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग के निर्धारक तत्त्व

2.5.1 नव-उपनिवेशवाद

2.5.2 बहुराष्ट्रीय नियमों की लज्जापूर्ण भूमिका

2.5.3 उत्तर तथा दक्षिण देशों में गहरा अन्तर

2.5.4 विकसित और विकासशील देशों में निरन्तर बढ़ता अन्तर

2.5.5 विश्व की आय व साधनों का एक पक्षीय शोषण

2.5.6 बढ़ती अन्तर्निर्भरता

2.5.7 गैट तथा विश्व व्यापार संगठन की अप्रभावशीलता

2.5.8 नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां

2.5.9 ब्रेटनवुड की असफलता

2.6 प्रमुख मुद्दे एवं धारणाएं

2.6.1 वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में संस्थागत परिवर्तन

2.6.2 अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व व्यापार में संरक्षणवाद की नीति का अन्त

2.6.3 बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका पर नियंत्रण

2.6.4 वस्तु उत्पादकों के हितों का संरक्षण

2.6.5 विकासशील देशों की आत्मनिर्भरता में वृद्धि

2.6.6 तकनीकी आदान-प्रदान

2.6.7 पूंजी स्रोतों का हस्तांतरण

2.6.8 ब्रेटनवुड व्यवस्था में पूर्ण संशोध

2.7 सारांश

2.8 प्रश्नावली

2.9 पाठन सामग्री

2.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के सामने सबसे बड़ी समस्या आर्थिक विकास की थी। इन सभी राष्ट्रों की अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतन्त्र भूमिका अदा करने के रास्ते में आर्थिक साधनों की कमी आड़े आई। अधिकतर नवोदित राष्ट्रों को अपने आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों का मुंह ताकना पड़ा। विकसित देशों ने आर्थिक सहायता के नाम पर उनके ऊपर इतनी अधिक कठोर शर्तें लगा दी कि ये सभी देश एक-एक करके नए प्रकार के साम्राज्यवाद के शिकार हो गए, जिसे आर्थिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है। इसके अंतर्गत दी जाने वाली आर्थिक सहायता प्रदान करने वाली आर्थिक संस्थाओं की शर्मनाक भूमिका के कारण सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति अत्यंत चिन्ताजनक होती गई। इससे विकसित व नवोदित विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों में गहरी खाई उत्पन्न हो गई। इसने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अधिक शोषणपूर्ण तथा भेदभावपूर्ण बना दिया और विकासशील देशों को इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने को बाध्य कर दिया। धीरे-धीरे तृतीय विश्व (विकासशील) के देशों में एकता व एकीकरण के प्रयास तेज होने लगे जिनका उद्देश्य नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग करना था ताकि विकसित और विकासशील देशों के डील की आर्थिक असमानता को कम किया जा सके। इस तरह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग का जन्म हुआ और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1974 में महासभा के विशेष अधिवेशन में इसका अनुमोदन का दिया गया।

2.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विकासशील देशों द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग तथा उसके लागू होने की स्थिति की उचित जानकारी प्रदान करना है। सर्व प्रथम, यह नई आर्थिक व्यवस्था क्या है तथा किन सिद्धान्तों पर आधारित है इसकी चर्चा की गई है। इसके बाद इस प्रकार की मांग करने के पीछे प्रमुख कारणों का अति विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ इस अवधारणा से जुड़े प्रमुख मुद्दों एवं धारणाओं का स्पष्ट वर्णन किया गया है। अन्ततः किस प्रकार वैश्वीकरण की दौड़ ने इस मुद्दे को गौण स्थिति में पहुंचा दिया है कि जानकारी दी गई है।

2.2 नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य वर्तमान भेदभावपूर्ण आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण नए सिरे से करना है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के समर्थक देशों का मानना है कि विकसित और विकासशील देशों में गहरी आर्थिक असमानता है। वर्तमान व्यवस्था धनी या विकसित देशों के हितों की ही पोषक है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करके इसे न्यायपूर्ण व समान बनाना है ताकि यह विकासशील देशों के भी हितों की पोषक बन जाए। इसका प्रमुख ध्येय नव-उपनिवेशवाद को समाप्त करके अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं को अधिक तर्कसंगत बनाना है ताकि थोड़े से विकसित देशों द्वारा बड़ी संख्या वाले विकासशील देशों के आर्थिक शोषण को रोका जा सके।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वर्तमान भेदभावपूर्ण व आर्थिक असमानता पर आधारित अर्थव्यवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से तृतीय विश्व के देशों द्वारा उठाई गई मांग है ताकि

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध न्यायपूर्ण व अधिक तर्कसंगत बने और नव-उपनिवेशवाद के सभी साधन इस तरह से संचालित हों कि विकासशील देश भी विकसित देशों की तरह आर्थिक विकास के मार्ग पर चल सकें।”

साधारण शब्दों में, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वर्तमान अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नए सिरे से स्थापित करने का मार्ग है ताकि विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों का औपनिवेशिक शोषण रूक जाए और विश्व की आय तथा साधनों का न्यायपूर्ण व समान बंटवारा हो ताकि उत्तर-दक्षिण का अन्तर समाप्त हो जाए।

2.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्त

वर्तमान पक्षपातपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य विद्यमान आर्थिक समानता को कम करना है ताकि विकासशील देश भी आर्थिक विकास के रास्ते पर चल सकें। इसके लिए विकासशील देशों ने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के बारे में कुछ सिद्धान्त बताए हैं जो निम्नलिखित हैं –

1. विश्व मुद्रा प्रणाली का सामान्यीकरण करना
2. विकासशील तथा विकसित देशों के बीच विद्यमान तकनीकी भेद को कम करना
3. विकसित देशों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के वित्तीय बोझ को कम करना
4. बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं को तर्कसंगत बनाना
5. विकासशील देशों को विकसित देशों के साथ व्यापार की वरीयता देना
6. विकासशील देशों द्वारा उत्पादित औद्योगिक माल के निर्यात को प्रोत्साहन देना
7. कच्चे माल की कीमत घटना-बढ़ाने की प्रवृत्ति का विरोध तथा कच्चे माल व तैयार माल की कीमतों में कम अन्तर होना
8. कच्चे माल तथा समस्त आर्थिक क्रियाकलापों पर राष्ट्रीय सम्प्रभुता को स्वीकार करना।

उपरोक्त सभी सिद्धान्त नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक हैं। ये एक तरह से विकासशील देशों द्वारा नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना करने हेतु सुझाई गई प्रमुख बातें हैं। इन्हीं पर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ढांचा खड़ा किया जा सकता है।

2.4 ऐतिहासिक विकास

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग सर्वप्रथम 1964 में आयोजित गुटनिरपेक्ष देशों के काहिरा सम्मेलन में उठाई गई, इसके बाद 1970 के लुसाका गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में इसी बात को दोहराया गया। 1973 में गुटनिरपेक्ष देशों के अलजीयर्स सम्मेलन में धनी या विकसित देशों की शोषक प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का घोषणा पत्र अपनाया गया। इसमें प्राकृतिक देशों को तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने, उनके व्यापार को वरीयता देने तथा बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने का सिद्धान्त अपनाया गया। इसके बाद 1975 के लीमा सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों द्वारा निर्यातित कच्चे माल के मध्यवर्ती भण्डारों तथा प्राथमिक उत्पादों के लिए वित्तीय सहायता देने हेतु एक संचित कोष की स्थापना करने पर सहमति हुई। 1975 में ही विकसित तथा विकासशील देशों के 28 प्रतिनिधियों ने पेरिस में बैठक की। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की समस्या पर विचार करना था लेकिन इसके कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। 1976 के कोलम्बो गुटनिरपेक्ष

सम्मेलन में भी इस बारे में विचार किया गया। इसमें विकासशील देशों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देने की बात कही गई।

1981 की केनकुन शिखर वार्ता में भी विकासशील तथा विकसित देशों के बीच विश्व अर्थव्यवस्था सम्बन्धी वार्तालाप हुआ। लेकिन यह वार्ता उत्तर-दक्षिण के आर्थिक सम्बन्धों पर सर्वमान्य निर्णय तक नहीं पहुंच सकी। 1982 में नई दिल्ली में दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने के लिए एक बैठक का आयोजन हुआ। इसमें सामूहिक आत्मनिर्भरता के लिए सहयोग के महत्व को सर्वसम्मति से मान्यता देने के साथ यह सम्मेलन समाप्त हो गया। इसके बाद दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर जुलाई 1985 को नई दिल्ली में बैठक हुई। इसमें भी सामूहिक आत्म-निर्भरता के लिए कार्य करने का आह्वान किया गया। इसके बाद जून 1987 में दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर गुटनिरपेक्ष देशों की बैठक हुई। यह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की ओर अच्छा कदम था। इसके बाद मार्च 1988 में दक्षिण-दक्षिण आयोग की बैठक कुआलालम्पुर में हुई। इसमें विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं से लड़ने के लिए एक बहुमुखी रणनीति का निर्माण करने पर विचार हुआ। इसके बाद G-15 की बैठक 1990 में कुआलालम्पुर में हुई। G-15 विकासशील देशों का एक समूह है। इसमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने के प्रयास किए गए। G-15 की कारकास बैठक में यह कहा गया कि विकासशील देश भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महान भूमिका निभा सकते हैं। इसलिए तृतीय विश्व की एकता व सहयोग पर बल देना चाहिए। इसमें क्षेत्रीय तथा उपक्षेत्रीय व्यापार संगठन कार्यक्रमों को तृतीय विश्व के हितों में तकनीकी हस्तांतरण पर निर्भर हुआ। इसमें G-7 के साथ निरन्तर वार्तालाप को जारी रखने की वचनबद्धता को भी दोहराया गया। इसके बाद G-15 का नई दिल्ली में शिखर सम्मेलन हुआ। इसमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का लोकतन्त्रीकरण करने की मांग का समर्थन किया गया। इसके बाद G-15 के ब्यूनेस ऐरिस सम्मेलन में G-7 के साथ सभी अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर वार्तालाप शुरू करने की सिफारिश की गई। इसमें वर्तमान विश्वीकरण की प्रक्रिया को विकासशील देशों के हितों के विपरीत बताया गया। इसके बाद G-15 की जमैका बैठक में विश्व आर्थिक व्यवस्था में विकासशील देशों को अधिक महत्व दिए जाने तथा इसमें संस्थागत सुधारों की मांग की गई। G-15 के काहिरा (2000) सम्मेलन में भी असमान विश्व अर्थव्यवस्था पर विचार किया गया और WTO को अपने उत्तरदायित्वों को विकासशील देशों की समस्याओं के सन्दर्भ में निर्धारित करने का आह्वान किया। इस तरह G-77, दक्षिण-दक्षिण सहयोग, G-15 गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आदि द्वारा NIEO की मांग बार-बार उठाई जाती रही है। लेकिन विकसित राष्ट्रों का रुख अब तक नकारात्मक ही रहा है।

2.5 नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग के निर्धारक तत्व

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को नए ढंग से स्थापित करने की जो पुरजोर मांग की है, उसके पीछे कुछ ठोस कारण हैं नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को जन्म देने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं

2.5.1 नव-उपनिवेशवाद

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों पर पुराना साम्राज्यवादी नियंत्रण तो समाप्त हो चुका है और उसकी जगह नए प्रकार के साम्राज्यवाद ने ले ली है। इसे नव उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। आज अधिकतर विकासशील या पिछड़े देश विकसित देशों के उपनिवेशीय नियंत्रण में रह रहे हैं। राजनीतिक रूप से देखने में तो विकासशील देश प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं लेकिन व्यवहार में विकसित देशों द्वारा नव उपनिवेशीय नियंत्रण के रूप में उनकी राजनीतिक क्रियाओं में पूरा हस्तक्षेप है। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ये देश निरन्तर आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता के रूप में विकसित देशों की अन्यायपूर्ण आर्थिक नीतियों का शिकार हैं। उनकी दयनीय आर्थिक स्थिति के लिए साम्राज्यवादी शक्तियां भी उत्तरदायी हैं। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भी इन विकसित देशों ने इनका आर्थिक शोषण किया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यह प्रक्रिया बन्द नहीं हुई।

विकासशील देशों की वित्तीय सहायता प्राप्त करने की आर्थिक मजबूरियां नव उपनिवेशीय शोषण की प्रवृत्ति का ही परिणाम हैं। आज नव उपनिवेशवाद के अंतर्गत सैनिक सहायता, बहुराष्ट्रीय निगम, संरक्षणवादी व्यापार, संधियों में साझेदारी, हस्तक्षेप आदि साधनों द्वारा विकसित राष्ट्र विकासशील देशों को अपनी आर्थिक नीतियों का शिकार बना रहे हैं। आज WTO, IMF जैसी विश्व आर्थिक संस्थाएं भी इन विकसित देशों के हितों की ही पोषक हैं। इसलिए इस नव-उपनिवेशीय नियंत्रण को विकासशील राष्ट्र समाप्त करने की दिशा में ठोस उपाय कर रहे हैं। दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयास करना इसी का परिणाम है ताकि क्षेत्रीय सहयोग में वृद्धि करके तथा विकसित देशों पर पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय में कमी करके उपनिवेशीय नियंत्रण में कमी लाई जा सके। दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देना नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ही एक सिद्धान्त है। जो NIEO की मांग में वृद्धि करता है।

2.5.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जापूर्ण भूमिका

ये निगम विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में दीमक की तरह प्रवेश कर रहे हैं और अपनी कार्यप्रणाली द्वारा उनकी अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचा रहे हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि विकसित देशों के 800 बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में विकसित राष्ट्रों की भुजा के रूप में कार्य कर रहे हैं। विकासशील देशों में पूंजी निवेश करके इनको कई गुणा मुनाफा प्राप्त हो रहा है। समस्त विश्व के कुल उत्पादन के 50 प्रतिशत से अधिक भाग पर इनका ही कब्जा है। विकसित देशों की विकसित तकनीक इनका प्रमुख साधन है। जिसके बल पर ये विकासशील देशों में कच्चे माल को तैयार माल में बदलकर वही मंडियों में बेचकर भारी लाभ प्राप्त कर रहे हैं। भारत जैसे अति विकासशील देश भी इनके जाल में फंसते जा रहे हैं। कम विकासशील देशों की स्थिति तो ज्यादा बदतर है। इन निगमों ने विकासशील देशों की मंडियों और तकनीक के रास्ते में बहुत सारी रूकावटें पैदा कर रखी हैं जिससे विकासशील देशों की उत्पादित वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाती हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका के कारण विकासशील देश लगातार कच्चे माल की मंडियां बनती जा रही हैं और इस पर विकसित राष्ट्रों की पकड़ मजबूत होती जा रही है। विकासशील देशों के पास बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पैदा किए गए अवरोधों की कोई काट नहीं है। ये निगम नव-उपनिवेशवाद का एक मजबूत साधन होने के नाते विकसित देशों के हितों में ही वृद्धि कर रहे हैं और विकासशील देशों का भरपूर आर्थिक शोषण कर रहे हैं। आज अधिकतर विकासशील देश विकसित देशों की इस चाल को समझ चुके हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम भी विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर पिना नियंत्रण स्थापित करने का एक साधन हैं। इसलिए विकासशील देश बहु-राष्ट्रीय निगमों की शोषणकारी भूमिका को समान्त करने के उद्देश्य से नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की मांग करते हैं।

2.5.3 उत्तर तथा दक्षिण देशों में गहरा अन्तर

आज उत्तर-दक्षिण में गहरी खाई है। उत्तर के विकसित देश जो 30 प्रतिशत जनसंख्या वाले हैं, विश्व के 70 प्रतिशत जनसंख्या वाले विकासशील देशों पर अपना आर्थिक वर्चस्व कायम किए हुए हैं। विकासशील देशों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय औसतन 100 पौंड है, जबकि विकसित देशों में यह 3000 से 6000 पौंड तक है। आज विकासशील देशों में आर्थिक विकास के नाम पर गरीबी, भुखमरी, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएं विद्यमान हैं, जबकि विकसित देश विलासितापूर्ण जीवन जी रहे हैं। ये सभी देश विकासशील देशों का आर्थिक शोषण करके ही फल-फूल रहे हैं। आज विकासशील देशों के पास शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए आर्थिक साधनों की कमी आड़े आ रही है। इन देशों में लोगों को भरपेट भोजन भी नहीं मिल रहा और कुपोषण की समस्या निरंतर बढ़ रही है। विश्व अर्थव्यवस्था के असंतुलित विकास ने विकासशील देशों की समस्याओं को और अधिक बढ़ाया है। इससे उत्तर-दक्षिण में गहरा अन्तर पैदा हो गया है। विकासशील देशों की यही मांग है कि विश्व अर्थव्यवस्था का नए रूप में गठन हो ताकि विकसित व विकासशील देशों में पैदा हुई गहरी खाई को पाटा जा

सके। अर्थात् नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना ही विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील देशों का आर्थिक शोषण रोककर उत्तर दक्षिण के अन्तर को कम कर सकती है।

2.5.4 विकसित और विकासशील देशों में निरन्तर बढ़ता अन्तर

आज अमीर राष्ट्र और अमीर होते जा रहे हैं और गरीब राष्ट्र अधिक गरीब होते जा रहे हैं। यह सब वर्तमान अन्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का ही परिणाम है। इसी से विकसित तथा विकासशील देशों में अन्तर निरन्तर बढ़ रहा है। ऊर्जा संकट ने विकसित देशों को उन्नत तकनीक के बल पर विकासशील राष्ट्रों का शोषण करने के योग्य बनाया है। इसने उत्तर दक्षिण के अन्तर को बढ़ाया है। आज UNCTAD तथा GATT जैसी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं भी इस अन्तर को कम करने में नाकामयाब रहे हैं। इन संगठनों की प्रवृत्ति भी विकसित देशों की ओर ही है। इन्होंने विकासशील देशों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। ऊर्जा संकट, विश्व व्यापार में कड़ी प्रतिस्पर्धा, बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका, विश्व व्यापार संगठन की अपर्याप्तता, विकासशील राष्ट्रों को प्राप्त होने वाली कम आर्थिक सहायता, विकासशील देशों का तकनीकी पिछड़ापन आदि ने उत्तर दक्षिण (विकसित विकासशील) के अन्तर में वृद्धि करने में सहायता की है। इससे विकासशील देशों में मुद्रा स्फीति की दर बढ़ रही है और उनका भुगतान संतुलन का घाटा अत्यंत रूप से बढ़ चुका है। जिसे नियंत्रित करना विकासशील देशों के वश की बात नहीं है। आज तीसरा विश्व भयानक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के दौर से गुजर रहा है। विश्व व्यापार में विकासशील देशों का योगदान निरन्तर घट रहा है। आज तृतीय विश्व के देश मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित हैं। विश्व के विकसित देशों का विलासपूर्ण जीवन निरन्तर बढ़ रहा है। 1990 के बाद तो विकासशील देशों का आर्थिक पिछड़ापन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इससे विकासशील देशों का चिन्तित होना स्वाभाविक है। इसलिए वे इस अन्तर को कम करके न्यायपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात करते हैं।

2.5.5 विश्व की आय व साधनों का एक पक्षीय शोषण

आज विश्व के थोड़े से ही विकसित राष्ट्र बहुसंख्यक विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक साधनों पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं और ऐसा करके वे विकासशील राष्ट्रों का आर्थिक शोषण कर रहे हैं। तकनीकी ज्ञान के बल पर विकसित राष्ट्र आर्थिक साधनों पर अपने वर्चस्व को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं। इनका कच्चे माल और निर्मित माल पर पूरा एकाधिकार है। वे विकासशील देशों का कच्चा माल बेचने तथा तैयार माल बेचने के उद्देश्य में नव-उपनिवेशीय तरीकों का प्रयोग करके सफल हो जाते हैं। उनका ध्येय अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। इसलिए वे तृतीय विश्व को इसके सर्वथा अनुकूल समझते हैं और उसके आर्थिक साधनों का खूब शोषण करते हैं। IMF, World Bank तथा WTO भी उसकी इस काम में पूरी मदद करते हैं। इनकी आड़ में विकसित देश विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करके अपने आर्थिक हितों को ही पोषित करते हैं। ये संस्थाएं ही उनके आर्थिक साम्राज्यवाद को सुदृढ़ बनाती हैं और विश्व के आर्थिक साधनों को एक पक्षीय झुकाव में सहायता करती हैं। इससे तृतीय विश्व के देशों का आर्थिक शोषण बढ़ जाता है और NIEO की मांग का उदय होता है।

2.5.6 बढ़ती अंतर्निभरता

आज विश्व के विकसित तथा विकासशील राष्ट्रों में पारस्परिक निर्भरता में लगातार वृद्धि हो रही है। विकसित देशों को कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने के लिए मंडियों की आवश्यकता है जिसे विकासशील देश ही पूरा कर सकते हैं। इसी तरह कम-विकसित या विकासशील देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता व तकनीकी ज्ञान प्राप्त करने के लिए विकसित देशों की ओर देखना पड़ रहा है। लेकिन विकसित राष्ट्र विकासशील देशों का शोषण करने की नीतियों को अमल में ला रहे हैं। विकसित तकनीक तथा राजनीतिक व सैनिक श्रेष्ठता के बल पर विकसित राष्ट्र विकासशील देशों पर अपना आर्थिक नियंत्रण सुदृढ़ कर रहे हैं।

विकासशील देशों का यह सोचना कि पारस्परिक अन्तर्निर्भरता से उनका भला होगा, गलत साबित हो रहा है। पारस्परिक अन्तर्निर्भरता ने आज विकसित राष्ट्रों की भूमिका को नकारात्मक बना दिया है। इसने नव-उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया है। इसलिए विकासशील राष्ट्र यह अनुभव करने लगे हैं कि सार्वभौमिक अन्तर्निर्भरता के कारण वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था अधिक अप्रासांगिक बन गई है। इसलिए इसे अधिक न्यायसंगत बनाने के लिए इसकी पुनः संरचना करना आवश्यक हो गया है। लेकिन विकसित राष्ट्र इसका विरोध करके इसके मार्ग में बाधाएं उत्पन्न कर रहे हैं।

2.5.7 गैट तथा विश्व व्यापार संगठन की अप्रभावशीलता

इन संगठनों का निर्माण इसलिए हुआ था कि इससे बहुपक्षीय व्यापार को बढ़ावा मिले। पहले यह काम GATT का या WTO करता है। इसकी स्थापना का उद्देश्य सदस्य देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाना है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के तहत इसे विश्व व्यापार के पुलिसमैन की भूमिका अदा करें। लेकिन आज नया GATT या WTO विकसित और विकासशील देशों की समस्याओं का हल करने में नाकामयाब रहा है। इसने श्रम कानूनों, पेटेंट तथा कॉपीराइट के बारे में कानूनों को और अधिक जटिल बना दिया है। आज आलोचक यह कहते हैं कि WTO बहुराष्ट्रीय निगम के लिए विश्व विजय का प्रतीक है। इससे विकासशील देशों को आर्थिक शोषण में वृद्धि हुई है। इसलिए तृतीय विश्व के देश नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना की पुरजोर मांग करते हैं ताकि न्यायपूर्ण आर्थिक सम्बन्धों का विकास हो।

2.5.8 नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां

1990 के बाद शीत युद्ध के अन्त ने तृतीय विश्व की समस्याओं को और अधिक बढ़ा दिया है। आज विकसित देशों का रुख पूर्वी यूरोप के देशों की ओर है। अये देश पूर्वी यूरोप को अधिक से अधिक आर्थिक लाभ पहुंचा रहे हैं ताकि वहां पर साम्यवाद का अजगर फिर से न आ जाए। इससे विकासशील देशों को आर्थिक सहायता बहुत कम ही मिलने लगी है। इसने उनकी आर्थिक विकास की गति को बहुत धीमा कर दिया है। इसलिए तृतीय दुनिया के देश और अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए विश्व अर्थव्यवस्था को न्यायपूर्ण व समान बनाने की वकालत करते हैं।

2.5.9 ब्रेटनवुड की असफलता

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ब्रेटनवुड में हुए व्यापार समझौते के ही तहत हो रहा है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अन्यायपूर्ण व असमान बना दिया है। बढ़ते भुगतान घाटे तथा भेदभावपूर्ण ऋण व्यवस्था ने यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था अन्यायपूर्ण है। यह विकसित देशों की शोषणकारी प्रवृत्ति को और अधिक बढ़ावा दे रही है। इससे विकासशील देशों के हितों की बजाय विकसित देशों के ही हितों का पोषण हो रहा है। इसलिए विकासशील देश वर्तमान ब्रेटनवुड प्रणाली को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को अधिक सामान्य बनाना है ताकि विकासशील देश वर्तमान ब्रेटनवुड प्रणाली को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को अधिक सामान्य बनाना है ताकि विकासशील देशों को भी व्यापार में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने का अवसर प्राप्त हो और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना हो।

इस प्रकार उत्तर-दक्षिण में गहरे अन्तर, सावैभौतिक पारस्परिक अन्तर्निर्भरता, नव-उपनिवेशवाद, आर्थिक साधनों का एक पक्षीय शोषण, बहुराष्ट्रीय निगमों की अन्यायपूर्ण भूमिका, WTO की अपूर्णता आदि तत्वों ने मिलकर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को सुदृढ़ बनाया है। आज विकासशील देश अपनी इस मांग को जोरदार रूप में उठा रहे हैं; लेकिन यह मांग एक मांग ही बना हुई है। इसे वास्तविकता बनाने में न जाने कितना समय लगेगा।

2.6 प्रमुख मुद्दे व धारणाएं

आज अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा में कई विषय तथा समस्याएं शामिल की गई हैं। इन समस्याओं का समाधान उत्तर दक्षिण वार्ताओं पर निर्भर करता है। यदि इन समस्याओं का उचित समाधान करने में विकासशील विकसित देशों को सफलता मिल जाए तो विश्व में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना होगी और सभी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध नए सिरे से स्थापित होने लगेंगे। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा के प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित हैं—

2.6.1 वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में संस्थागत परिवर्तन

आज विश्व अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाली सभी संस्थाएं विकसित राष्ट्रों के हितों की पोषक हैं। आर्थिक संबंधों को संचालित व नियंत्रित करने वाले सभी नियम भी अन्यायपूर्ण हैं। जो आर्थिक विषमताओं में वृद्धि करने वाले हैं। इसलिए विकासशील देशों की यह बात उचित है कि विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाएं विकसित राष्ट्र के हितों में कार्य करती हैं। अतः इनका पुनर्गठन किया जाना चाहिए। GATT भी धनी तथा विकसित राष्ट्रों को लाभ पहुंचाने वाला है। उरुग्वे वार्ता भी विकसित राष्ट्रों के पक्ष में है। वर्तमान पेटेंट कानून व कॉपीराइट भी विकसित देशों की अर्थव्यवस्था में लाभकारी स्थिति पैदा करते हैं। इसलिए विश्व आर्थिक संस्थाओं व उनकी कार्यप्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक है तथा न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था पर आधारित न्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों का जन्म हो।

2.6.2 अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व व्यापार में संरक्षणवाद की नीति का अन्त

वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था विकसित राष्ट्रों की संरक्षणवादी व्यापार नीति पर आधारित है। इस नीति के तहत विकसित देश विकासशील देशों के व्यापार पर मनमाने अंकुश लगाकर अप्रत्यक्ष रूप से उनके व्यापार को हानि पहुंचा रहे हैं। इन देशों ने GATT के नियमों को भी ताक पर रख दिया है और अपनी संरक्षणवादी नीति को ही सबल आधार प्रदान करने में लगे हुए हैं। इन विकसित देशों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विकासशील देशों का कोटा पहले से भी कम कर दिया है। जूता व कपड़ा उद्योग पर अनेक प्रतिबंध से परिपूर्ण शर्तें थोपकर इन देशों ने विकासशील देशों के व्यापार को क्षति पहुंचाई है। कठोर प्रतिबंधों के कारण इनका निर्यात लगातार घट रहा है और भुगतान संतुलन का घाटा लगातार बढ़ रहा है। आज भी इंग्लैंड तथा ब्रिटेन जैसे देश विलासिता की वस्तुओं तथा लोहे जैसी आवश्यक धातु से निर्मित सामान पर भी सीमित कोटा प्रणाली लगाने पर विचार कर रहे हैं। इन संरक्षणवादी नीतियों के कारण विकासशील देश लगातार हानि उठा रहे हैं। उनका आयात तो बढ़ रहा है, लेकिन निर्यात घट रहा है। ऐसी स्थिति में उनकी अर्थव्यवस्थाएं बर्बादी के कगार पर पहुंचने वाली हैं। अतः विकासशील देशों की यह मांग सही है कि संरक्षणवादी व्यापार नीति पर प्रतिबंध लगाया जाए और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लक्ष्य की ओर बढ़ा जाए।

2.6.3 बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका पर नियंत्रण

आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगम एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इनका सभी अंतर्राष्ट्रीय पेटेंटों पर नियंत्रण है। अपने तकनीकी ज्ञान के बल पर इनका समस्त विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था व आर्थिक नीतियों पर प्रभुत्व है। अपने तकनीकी ज्ञान के बल पर इनका समस्त विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था व आर्थिक नीतियों पर प्रभुत्व है। तकनीक को जब ये तीसरी दुनिया के देशों को बेचते हैं तो इनका लाभ कई गुणा बढ़ जाता है। इसलिए विकासशील देशों को आर्थिक साधनों की कमी के चलते भारी कीमत पर तकनीक खरीदनी पड़ती है। साथ में ही उन देशों को बहुराष्ट्रीय निगमों के अनुचित हस्तक्षेप को भी सहना पड़ता है। इनकी लज्जास्पद भूमिका के कारण विकासशील देशों को भारी हानि उठानी पड़ती है। इन नव-उपनिवेशीय नियंत्रण के कारण विकसित तथा

विकासशील देशों में आर्थिक असमानता ज्यादा बढ़ जाती है। विकासशील देशों में ये निगम वहां की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यप्रणाली को भी प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं ताकि उनका उपनिवेशीय नियंत्रण और मजबूत बन जाए। कई बार तो ये विकासशील देशों में तख्ता पलट जैसी घटनाओं को सफलतापूर्वक अंजाम दे देते हैं। इसलिए वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में इनकी भेदभावपूर्ण भूमिका के कारण, विकासशील देश इनके लिए एक आदर्श आचार संहिता के निर्माण पर जोर देते हैं ताकि इनकी भूमिका स्वस्थ आर्थिक सम्बन्धों का निर्माण करने में मददगार सिद्ध हो और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का प्रवाह हो।

2.6.4 वस्तु उत्पादकों के हितों का संरक्षण

आधुनिक युग सार्वभौमिक पारस्परिक आत्मनिर्भरता का युग है। इसमें विकासशील देशों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु उनकी भूमिका को विकसित देशों की तुलना में कम आंका जाता है। अपने हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें विकसित देशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उनकी उत्पादित वस्तुओं को विकसित देशों की संरक्षणवादी व्यापारिक नीति तथा खुली प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इसमें उनको असफलता का मुंह देखना पड़ता है। इससे विकासशील देशों को कम निर्यात से ही संतुष्ट होना पड़ता है। विकसित देशों द्वारा कच्चे माल व तैयार माल की कीमतों व कीमत घटाने-बढ़ाने की प्रवृत्ति के कारण भी उन्हें भारी हानि उठानी पड़ती है। इससे तृतीय विश्व क देशों में निर्धनता का प्रतिशत लगातार बढ़ रहा है। इसलिए विकासशील देशों की यह मांग है कि वर्तमान संरक्षणवादी नीति को समाप्त करके न्यायपूर्ण नीति बनाई जाए। कच्चे माल की कीमतें स्थित रखी जाएं ताकि विकासशील देशों को आर्थिक नुकसान न उठाना पड़े। कीमतों को घटाने या बढ़ाने की नीति अंतर्राष्ट्रीय समझौते के तहत ही निर्धारित की जाए ताकि विकासशील देशों को अधिक नुकसान न हो। इससे विकासशील देशों का आर्थिक नुकसान कम होगा। व्यापार में उनकी भागेदारी निर्यातक के रूप में बढ़ेगी और असमान आर्थिक सम्बन्धों में बदलाव आकर नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सकेगी।

2.6.5 विकासशील देशों की आत्मनिर्भरता में वृद्धि

आधुनिक युग में सभी विकासशील राष्ट्रों का ध्येय आत्मनिर्भरता को प्राप्त करना है। आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था उनकी आत्मनिर्भरता को पारस्परिक निर्भरता में बदलने वाली है। वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में विकासशील देशों को आत्मनिर्भर बनाने जैसे तत्वों का सर्वथा अभाव है। विकासशील देशों में निर्धनता, बेरोजगारी, भुखमरी जैसी समस्याओं का ढेर है। अब विकासशील देश इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ एकजुट हो चुके हैं। वे चाहते हैं कि विकासशील देश पारस्परिक सहयोग की भावना के आधार पर ही अपनी आत्मनिर्भरता में वृद्धि करें। यद्यपि वे यह भी जानते हैं कि विकसित राष्ट्रों पर उनकी निर्भरता आसानी से कम नहीं हो सकती। फिर भी वे पारस्परिक निर्भरता के स्थान पर आत्मनिर्भरता के प्रयास करने की दिशा में कृतसंकल्प हैं। इसी से नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास होगा और विकासशील देशों का यह आत्मनिर्भरता का लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त होगा।

2.6.6 तकनीकी आदान-प्रदान

तकनीकी ज्ञान आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण साधन होता है। विकासशील देशों में आर्थिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण उनके पास उन्नत तकनीक का न होना है। ये देश कच्चे माल को तैयार माल में बदल तो देते हैं, लेकिन विकसित देशों में उत्पादन वस्तुओं की तुलना में कम गुणवत्ता के कारण उनका माल अंतर्राष्ट्रीय बाजार स्पर्धा में पिछड़ जाता है। इसलिए विकासशील देशों का आर्थिक विकास उन्नत तकनीकी विकास पर ही निर्भर है। यह तकनीक विकसित देशों के पास है। विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से इसे भारी कीमतों पर बेचते हैं। इससे असमान आर्थिक संतुलन पैदा होता है। विकासशील राष्ट्रों की यही मांग है कि तकनीकी हस्तांतरण को सरल बनाया जाए ताकि कम कीमत पर इसे विकासशील देश भी खरीद सकें। लेकिन विकसित देश इस मांग को

अनुचित बताते हैं। इसलिए नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य भी तकनीकी आदान-प्रदान को सरल बनाकर उसको विकासशील देशों तक कम कीमत पर पहुंचाना है। इसी से (NIEO) की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

2.6.7 पूंजी स्रोतों का हस्तांतरण

आज विश्व के विकसित देशों का अधिकतर पूंजी स्रोतों पर कब्जा है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख ध्येय इन पूंजी स्रोतों का विकेन्द्रीकरण करके इनका लाभ विकासशील देशों तक भी पहुंचाना है। पूंजी साधनों के उचित प्रयोग से विकसित राष्ट्रों के साथ-साथ विकासशील देशों को भी लाभ होगा। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना से महत्वपूर्ण पूंजी साधनों का उपयोगी कार्यो में लगाकर ज्ञान का भी आदान प्रदान किया जा सकेगा। इसके लिए तृतीय विश्व के देशों के सभी ऋणों को समाप्त करना आवश्यक है। इसके साथ-साथ विकसित राष्ट्रों से कुल उत्पादन से प्राप्त आय का 0.7 प्रतिशत भाग विकासशील राष्ट्रों को अनुदान के रूप में मिलना भी जरूरी है। इससे तृतीय विश्व के देशों की आर्थिक समस्याओं का समाधान होगा, उनकी आर्थिक निर्भरता में कमी आएगी तथा उनका आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। इससे नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मार्ग तैयार होगा और भेदभावपूर्ण वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों का काला अध्याय समाप्त हो जाएगा।

2.6.8 ब्रेटनवुड व्यवस्था में पूर्ण संशोधन

वर्तमान विश्व व्यापार व्यवस्था में विकासशील देशों की भागेदारी बहुत ही कम है। निर्यात मंडियों पर विकसित देशों का ही कब्जा है। विकसित और विकासशील देशों के निर्यात में भारी अन्तर है। GATT की तरह यह भी धनी राष्ट्रों के हितों का ही पोषण कर रही है। इसलिए ब्रेटनवुड व्यवस्था पर आधारित खुली प्रतियोगिता को रोकना आवश्यक है। ताकि यह विकासशील देशों के हितों के अनुकूल कार्य करने लगे। आज विकासशील देशों की यह मांग है कि वर्तमान विश्व व्यापार व्यवस्था (ब्रेटनवुड व्यवस्था) को पूरी तरह समाप्त किया जाए और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमों को विकासशील देशों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाया जाए ताकि नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का निर्माण हो सके।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था की पुनःसंरचना, ब्रेटनवुड व्यवस्था में पूर्ण संशोधन, पुराने ऋणों की समाप्ति, विश्व व्यापार में तृतीय विश्व के देशों को अधिक हिस्सा प्रदान करना, तकनीकी हस्तांतरण, अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों में उचित भागेदारी, कृषि तथा उद्योग के लिए अधिक आर्थिक सहायता आदि की व्यवस्था द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। इसके लिए पारस्परिक अन्तर्निर्भरता की बजाय आत्मनिर्भरता की अधिक आवश्यक है। आज तृतीय विश्व के देशों में आपसी सहयोग की प्रवृत्ति जन्म ले रही है। लम्बे समय से G-77, G-15 तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग आदि प्रयासों से नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में ठोस कदम उठाए जा रहे हैं। लेकिन विकासशील देशों में आपसी सहयोग की भावना की कमी के चलते दक्षिण-दक्षिण सहयोग के कार्यक्रम को भी भारी धक्का लग रहा है। ऐसी परिस्थितियों में NIEO की कल्पना करना अप्रासंगिक होगा। यदि NIEO की स्थापना का मार्ग तैयार करना है तो सबसे पहले विकासशील देशों में आपसी सहयोग की प्रवृत्ति बढ़ानी होगी और उत्तर-दक्षिण संवाद को बनाए रखने के लिए विकसित देशों पर दबाव बनाना होगा ताकि वर्तमान अन्यायपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को समाप्त करने की दिशा में विकासशील देशों द्वारा किए जाने वाले प्रयासों को विकसित राष्ट्रों का भी भरपूर सहयोग प्राप्त हो सके।

2.7 सारांश

इस अध्याय में 1970 के दशक में विकासशील देशों द्वारा नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग का विस्तृत विवरण प्रदान किया है। इस व्यवस्था को मांग के कारणों का अति स्पष्ट वर्णन के बाद विभिन्न सिद्धान्तों पर

आधारित इस व्यवस्था की स्थापना की पैरवी की गई है। इस मांग से जुड़े प्रमुख मुद्दों एवं धारणाओं का भी आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। 1990 के दशक में किस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने इसे गौण स्थिति में पहुंचा दिया इसकी भी चर्चा अन्त में की गई है।

2.8 प्रश्नावली

1. नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (नीयो) से आपका क्या अभिप्राय है? इसकी मांग के कारणों की चर्चा कीजिए।
2. वैश्वीकरण प्रक्रिया ने नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग को समाप्त कर दिया है। टिप्पणी करें?
3. 1970 से 1990 तक दो दशकों में नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग हेतु किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।

2.9 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रुसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

उत्तर-दक्षिण संवाद

अध्याय का ढांचा

3.1 प्रस्तावना

3.1.1 अध्याय के उद्देश्य

3.2 उत्तर-दक्षिण संवाद से अभिप्राय

3.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

3.4 उत्तर-दक्षिण संवाद के प्रयास

3.4.1 1975 की पेरिस वार्ता

3.4.2 ब्रांट आयोग

3.4.3 संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष पत्र

3.4.4 कानकुन सम्मेलन

3.4.5 न्यूयॉर्क सम्मेलन

3.4.6 गैट समझौता तथा विश्व व्यापार संगठन

3.4.7 पृथ्वी सम्मेलन

3.4.7.1 जनसंख्या

3.4.7.2 तकनीकी हस्तांतरण

3.4.7.3 ग्रीन हाऊस प्रभाव

3.4.7.4 पर्यावरण विनाश

3.4.7.5 वन

3.4.7.6 धन

3.5 सारांश

3.6 प्रश्नावली

3.7 पाठन सामग्री

3.1 प्रस्तावना

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तृतीय विश्व के हितों के अनुकूल नहीं है। यह विकसित देशों के ही हितों की पोषण है।

इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में असमान संतुलन की स्थिति बनी हुई है। इसलिए विकासशील देश (तृतीय विश्व) वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग कर रहे हैं। लेकिन विकसित देश उनकी इस बात को स्वीकार करने से कतरा रहे हैं। वे वर्तमान विश्व व्यवस्था में किसी भी ऐसे परिवर्तन की सम्भावना से इंकार करते हैं जो उनके आर्थिक हितों को हानि पहुंचाने वाला हो। ऐसी स्थिति में विकासशील देश दो उपायों का सहारा लेते हैं – प्रथम तो वे उत्तर-दक्षिण संवाद को प्राथमिकता देते हैं, दूसरा वे दक्षिण-दक्षिण सहयोग की बात करते हैं।

3.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य उत्तर (विकसित) एवं दक्षिण (विकासशील) देशों के मध्य उस संवाद से अवजात कराना है जिसके द्वारा दक्षिण के राज्य एक ऐसी नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग कर रहे हैं जो दक्षिण के देशों के लिए भी अनुकूल हो। इस अध्याय में उन सब प्रयासों का वर्णन है जिसके माध्यम से ये देश अपनी सौदेबाजी की क्षमता के आधार पर उत्तर के देशों को मनाने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ उन सभी रियायतों का भी वर्णन है जो दक्षिण के राज्य उत्तर के राज्यों से चाहते हैं। अतः इन दोनों का संवाद एक गैर-समानता वाली अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को समाप्त कर एक समानता वाली अर्थव्यवस्था स्थापना हेतु प्रयासरत हैं।

3.2 उत्तर-दक्षिण संवाद से अभिप्राय

भौगोलिक आधार पर समस्त संसार दो गोलाद्धों – उत्तरी गोलाद्ध तथा दक्षिणी गोलाद्ध में विभाजित है। उत्तरी गोलाद्ध में अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य यूरोप के विकसित व धनी देश आते हैं तथा दक्षिणी गोलाद्ध में लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के अविकसित, पिछड़े हुए, गरीब तथा विकासशील देश शामिल हैं। राजनीतिक शब्दकोष में विकसित देशों के लिए उत्तर या विकासशील देशों के लिए दक्षिण शब्द का प्रयोग किया जाता है। उत्तर से तात्पर्य पूंजीवादी विचारधारा रखने वाले विकसित औद्योगिक देशों से है जहां पर तकनीकी विकास व उत्पादन अपनी चरम सीमा पर है। वहां पर प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है। ये देश समस्त विश्व के 70 प्रतिशत पूंजी साधनों पर अपना कब्जा किए हुए हैं। इसके विपरीत दक्षिण से तात्पर्य उन विकासशील देशों से है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए हैं। उनमें प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। इन देशों में तरह-तरह की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक समस्याएं हैं। पूंजी की कमी, प्रति व्यक्ति कम आय, जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, बेजोबगारी, भुखमरी आदि दक्षिण के विकासशील देशों की प्रमुख समस्याएं हैं। विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं उद्योग प्रधान हैं, जबकि विकासशील देशों की कृषि प्रधान है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि विकसित देश उत्तर की श्रेणी में हैं, जबकि भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा, नेपाल भूटान, अफगानिस्तान तथा अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के देश दक्षिण की श्रेणी में आते हैं। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उत्तर के विकसित तथा दक्षिण के विकासशील देशों के बीच नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था या अन्य बातों के बारे में किए गए वार्तालाप को उत्तर-दक्षिण संवाद का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार उत्तर-दक्षिण संवाद नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की दिशा में उत्तर तथा दक्षिण के देशों के बीच जारी रहने वाले व्यक्तिगत सम्पर्कों का कार्यक्रम है। इसके लिए दोनों में परस्पर होने वाले प्रत्यक्ष वाद-विवाद को शामिल किया जाता है क्योंकि संवाद से तात्पर्य आपसी विचार-विमर्श ही होता है।

3.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

काफी लम्बे समय उत्तर के विकसित देशों का दक्षिण के विकासशील देशों पर साम्राज्यवादी नियंत्रण रहने के कारण विकासशील देशों में आर्थिक पिछड़ापन बढ़ गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अधिकतर गुलाम देश उत्तर की साम्राज्यवादी ताकतों के पंजों से मुक्त होने लग गए। लेकिन अपने साधनों का

विकसित देशों द्वारा लंबे समय तक दुरुपयोग करते रहने के कारण इस समय तक वे आर्थिक पिछड़ेपन के शिकार हो चुके थे। उन्होंने पाया कि विश्व अर्थव्यवस्था का झुकाव उनके हितों के खिलाफ है। विश्व के 30 प्रतिशत जनसंख्या वाले विकसित देश उनकी 70 प्रतिशत जनसंख्या पर अपना नव-उपनिवेशीय नियंत्रण कायम किए हुए हैं तो उनके लिए यह चिन्ता का विषय बन गया। उन्होंने महसूस किया कि उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 700 डॉलर है, जबकि विकसित देशों में यह 10000 डॉलर है। उन्हें विकसित देशों से मिलने वाली आर्थिक सहायता उनको नए प्रकार के शोषण का शिकार बना रही है। उनका विश्व व्यापार में हिस्सा बहुत ही कम है उनका निर्यात लगातार गिर रहा है विदेशी व्यापार की शर्तें उनके हितों के विपरीत हैं। उन पर ऋणों का बोध लगातार बढ़ रहा है। 1984 की विश्व बैंक रिपोर्ट स्वयं इस बात को इंगित करती है कि विकासशील देश (दक्षिण) लगातार ऋण के भार से दबते जा रहे हैं 1950 में विश्व व्यापार में विकासशील देशों की भागेदारी 20 प्रतिशत थी जो 1975 तक 11 प्रतिशत रह गई। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्य वित्तीय संस्थान प्रतिवर्ष विकासशील देशों को जितनी मदद देते हैं; उससे अधिक वे ब्याज के रूप में वसूल करते हैं। विश्व विकास आन्दोलन की एक रिपोर्ट के अनुसार 1992 में विश्व बैंक ने भारत, बंगलादेश व पाकिस्तान को 3 अरब डॉलर का ऋण दिया। ब्याज के भुगतान के बाद इन्हें 88 करोड़ 50 लाख डॉलर ही प्राप्त हुए। इससे विश्व मौद्रिक संस्थाओं की कारगुजारी स्पष्ट हो जाती है कि ये संस्थाएं विकासशील देशों के हितों के अनुकूल नहीं हैं।

1964 से 1967 तक व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के तहत विकसित तथा विकासशील देशों में निर्यात व्यापार संबंधी कुछ विचार विमर्श हुआ लेकिन उसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला, 1970 के दशक के प्रारम्भ में ही विकासशील देश आर्थिक सम्बन्धों के लोकतन्त्रीकरण पर जोर देने लगे। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1974 में अपने विशेष अधिवेशन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) हेतु घोषणा एवं कार्यक्रम का मसौदा पारित किया। तब से अंकटाड, गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आदि के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था के ढांचे में परिवर्तन की मांग बलवती होने लगी। उत्तर के विकसित देशों ने इस बात को महसूस किया कि विकासशील देशों की उचित मांगों की अनदेखी करना गलत है। इसलिए उन्होंने आपसी विचार विमर्श की प्रक्रिया आरम्भ की जिसे उत्तर दक्षिण संवाद कहा जाता है। उत्तर-दक्षिण संवाद को विकसित करने वाली घटनाओं ने विकासशील देशों को नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग में वृद्धि करने के प्रयासों को और तेज कर दिया। संयुक्त राष्ट्र महासभा, अंकटाड, ब्रांट आयोग हटाना है, आदि के प्रयासों ने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तर-दक्षिण संवाद पर बल दिया।

3.4 उत्तर दक्षिण संवाद के प्रयास

उत्तर-दक्षिण संवाद के विकास के लिए किए गये प्रयत्न निम्नलिखित हैं-

3.4.1 1975 की पेरिस वार्ता

संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की घोषणा के बाद यह प्रथम प्रयास था जिसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में वृद्धि करना था, दिसम्बर, 1975 में विकसित तथा विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में वृद्धि करना था, दिसम्बर, 1975 में विकसित तथा विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के मुद्दे पर एकत्रित हुए और इसमें 8 विकसित तथा 19 विकासशील देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के आयोजन का श्रेय अमरीकी विदेश सचिव हेनरी किसिंजार को जाता है इस सम्मेलन को 'अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग सम्मेलन के नाम से भी जाना जाता है। यह सम्मेलन 18 महीने तक चला और 1977 में समाप्त हुआ। इसमें भाग लेने वाले देशों ने एक अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय तथा ऊर्जा कच्चे माल, विकास, वित्तीय मामलों के सम्बन्ध में चार आयोग स्थापित करने पर सहमति जताई। विकसित राष्ट्रों ने यह भी स्वीकार किया कि ऊर्जा की समस्या तथा आर्थिक विकास की समस्या के बीच गहरा रिश्ता है। इसमें उत्तर के विकसित देशों ने दक्षिण के निर्धन देशों के लिए कुछ

सहायता कार्यक्रमों की घोषणा की जिनमें गरीब देशों का बढ़ता तेल घाटा तथा जिस मूल्यों को स्थिर करने के लिए गरीब देशों की सहायता के लिए एक विशेष कोष की स्थापना की बात स्वीकारी गई। लेकिन इस सहायता के बदले विकसित देशों ने 1973 की तेज संकट की मार को फिर से न झेलने के लिए विकासशील देशों में स्थिर तेल मूल्यों व सप्लाई की गारंटी की मांग रखी। इस असंगत मांग ने इस वार्ता को विफल बना दिया और NIEO की मांग को गहरा आघात पहुंचा।

3.4.2 ब्रांट आयोग

दिसम्बर 1975 की पेरिस के असफल रहने पर विश्व बैंक के तत्कालीन-अध्यक्ष रॉबर्ट मैकनामारा के सुझाव पर अंतर्राष्ट्रीय विकास मुद्दों से निपटने के लिए 1977 में एक गैर सरकारी स्वतन्त्र आयोग स्थापित किया गया जिसे ब्रांट आयोग के नाम से जाना जाता है। इस आयोग के अध्यक्ष पश्चिमी जर्मनी के भूतपूर्व चांसलर विलीब्रान्ट थे। इसमें समस्त विश्व के देशों से सदस्य थे। भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. एल.के. झा भी इस आयोग में थे। इसकी प्रथम बैठक दिसम्बर 1977 में बोन में हुई। इस आयोग ने सामाजिक विकास समस्याओं के बारे में अपनी दो रिपोर्ट— 'नॉर्थ-साउथ : ए प्रोग्राम फॉर सर्वाइवल' तथा — 'कॉमन क्राइसिस' के नाम से भी प्रसिद्ध है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि विश्व शान्ति व सहयोग के लिए उत्तर-दक्षिण में पारस्परिक निर्भरता आवश्यक है। इस आयोग ने विश्व नेताओं की एक औपचारिक बैठक बुलाने का सुझाव दिया ताकि विकसित व विकासशील देशों के बीच अन्तर के प्रमुख विषयों — व्यापार, सहायता, सुरक्षा, तकनीकी, आदान-प्रदान विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उदारीकरण आदि पर वार्तालाप हो सके और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सकें।

इस आयोग ने उत्तर-दक्षिण संवाद के विकास के लिए — वस्तु व्यापार, विकासशील देशों के लिए ऋण, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सुधार, तकनीकी हस्तांतरण, बहुराष्ट्रीय निगमों का सुधार, समुद्री कानून, बहुउद्देश्यीय व्यापार, आदि मुद्दों पर अपने सुझाव दिए। उत्तर दक्षिण संवाद की दिशा में ब्रांट आयोग एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

3.4.3 संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष सत्र

महासभा ने 25 अगस्त, 1980 को विकसित व विकासशील देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों के बारे में विचार करने के लिए एक विशेष सत्र बुलाया। इसमें विकासशील देशों ने अधिक आर्थिक सहायता, अधिक स्वतन्त्र व्यापार (संरक्षणवाद से रहित) कच्चे माल की स्थिर कीमतें आदि की मांग विकसित देशों के सामने रखी। लेकिन विकसित देशों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। केवल इस बैठक में 9 महीने बाद होने वाली व्यापक समझौता वार्ता के लिए आधार प्रस्तुत कर दिया, अतः उत्तर-दक्षिण संवाद का यह प्रयास विकसित देशों की नकारात्मक भूमिका के कारण असफल रहा।

3.4.4 कानकून सम्मेलन

यह सम्मेलन मैक्सिको के कानकून शहर में अक्टूबर, 1981 में हुआ। इसमें 14 विकासशील तथा 8 विकसित देशों (22 देश) ने भाग लिया। इसका उद्देश्य उत्तर-दक्षिण संवाद की प्रगति को जाचना था। इसमें 23 देशों को निमंत्रण भेजे गए थे, लेकिन सोवियत संघ ने इसमें हिस्सा नहीं लिया, अमेरिका के कारण क्यूबा को इसमें नहीं बुलाया गया। प्रथम शिखर वार्ता को सम्बोधित करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन ने कहा कि अमेरिका व्यापक समझौता वार्ता में शामिल हो सकता है यदि — उनमें नई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्माण की बात न हो, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली सभी को मान्य हो, उनका उद्देश्य अधिक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास की प्राप्ति हो व समझौता वार्ताएं सहयोगपूर्ण वातावरण में हों। फ्रांस तथा कनाडा ने रीगन की इन शर्तों का खुलकर समर्थन किया। ब्रिटेन, अमरीका तथा जर्मनी ने यह विचार भी रखा कि विश्व अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना सम्बन्धी विचार इनसे

संबंधित अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों में ही हों।

विकासशील देशों ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ढांचे में व्यापक परिवर्तन करके उन्हें अधिक प्रासंगिक बनाया जाए। लेकिन विकसित देशों ने इसका विरोध किया और कहा कि इसके बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) के ही निर्णय को माना जाए। अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों ने इसका विरोध इसलिए किया कि वर्तमान व्यवस्था में विश्व बैंक का अध्यक्ष हमेशा अमेरिकी नागरिक तथा मुद्रा कोष का डायरेक्टर पश्चिमी यूरोप का ही नागरिक होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ में ये देश अपनी वीटो शक्ति का प्रयोग करके वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने में सफल हो सकते हैं। इसलिए इन्होंने (UNO) में ही निर्णय की बात उठाई। इस सम्मेलन में खाद्यान्न समस्या, भुखमरी, कृषि विकास, व्यापार समस्या, ऊर्जा संकट आदि में भी विस्तारपूर्वक विचार किया विकासशील देशों की तरफ से निर्यात सम्बन्धी समस्याओं को लेकर तैयार किया गया पांच सूत्री कार्यक्रम सम्मेलन की कार्यवाही में शामिल तो कर लिया गया लेकिन विकसित देशों ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। ये पांच सूत्र हैं – 1 जिन्सों के आयात-निर्यात संबंधी समझौते नए सिरे से हों, 2. जिन्सों के भाव स्थिर रखने के लिए अंकटाड के तत्वावधान में बताए जाने वाले सांझा कोष की प्रगति को बढ़ाया जाए। 3. विकासशील देशों के निर्यात पर प्रतिबंधों को समाप्त किया जाए, 4. रेशे सम्बन्धी समझौते का नवीनीकरण हो, 5. विकासशील देशों के निर्यात पर प्रतिबंध लगाने की प्रवृत्ति को रोका जाए। इस सम्मेलन के अन्त में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना व उत्तर-दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाने पर कोई सहमति नहीं हुई। विकसित देशों के नकारात्मक व्यवहार के कारण यह सम्मेलन असफल रहा।

3.4.5 न्यूयॉर्क सम्मेलन

इस सम्मेलन का आयोजन अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर में हुआ। अंकटाड के तत्वावधान में 1983 में आयोजित इस सम्मेलन में विश्व के अनेक नेता एकत्रित हुए। भूतपूर्व दिवंगत भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसमें उत्तर-दक्षिण संवाद को विकसित करने पर बल दिया गया। G-7 तथा अमेरिका की हठधर्मिता के कारण इस सम्मेलन में कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका और अन्त में यह भी विफल हो गया।

3.4.6 गैट समझौता तथा विश्व व्यापार संगठन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था तटकर और व्यापार से सम्बन्धित सामान्य समझौते द्वारा संचालित होती चली आ रही है। इस सामान्य समझौते को GATT कहा जाता है। इसका अर्थ है – व्यापार और प्रशुल्क पर सामान्य समझौता। इस समझौते की स्थापना का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में आने वाली बाधाओं को दूर करके लाभकारी लक्ष्यों को प्राप्त करना था। 1986 तक इसके 8 सम्मेलन हुए। आठवां सम्मेलन 20 सितम्बर, 1986 को उरुग्वे (अमेरिका) में हुआ जिसमें 100 देशों ने भाग लिया। उरुग्वे सम्मेलन में आगामी 4 वर्ष तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था पर GATT की प्रगति रिपोर्ट प्रस्तुत करने पर विचार हुआ। लेकिन 7 वर्ष बाद भी GATT अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था पर आम सहमति पर आधारित रिपोर्ट नहीं दे सका। उरुग्वे सम्मेलन में विभिन्न वार्ताओं का दौर चला। इसका आठवां दौर उरुग्वे के शहर पुन्ता डेल इस्ते में शुरू हुआ। इसमें परम्परागत वस्तु व्यापार निगम के बनते रहे। कृषि को इससे बाहर रखा गया। उरुग्वे दौर की वर्तमान वार्ता में कृषि को भी शामिल कर लिया गया। इसमें चार नए क्षेत्रों – 1. व्यापार से संबंधित निवेश उपाय, 2. बौद्धिक सम्पदा अधिकार के पहलुओं से सम्बन्धित व्यापार, 3. सेवाओं में व्यापार तथा 4. कृषि को शामिल किया गया। गैट वार्ता की सूची में ये क्षेत्र विकसित देशों की स्वीकृति से ही शामिल किए गए। विकसित देशों का तर्क था कि व्यापार से संबंधित निवेश उपायों को वार्ता सूची में शामिल करना चाहिए क्योंकि विकासशील देश विदेशी निवेश को नियंत्रित करने वाली नीतियां बनाकर विदेशी कम्पनियों के स्वतन्त्र व्यापार में बाधा पहुंचाते हैं। बौद्धिक सम्पदा अधिकारों, विशेषकर

पेटेंट, कॉपीराइट तथा ट्रेडमार्क के अपर्याप्त संरक्षण के कारण चोरी का व्यापार बढ़ता है और वैद्य व्यापार को हानी पहुंचती है। विकासशील देशों ने विकसित देशों के इन तर्कों का जोरदार खण्डन किया। 1990 तक उरुग्वे वार्ता किसी सर्वमान्य हल तक पहुंचने में असफल रही। 1991 में 108 सदस्यीय (GATT) के महानिदेशक आर्थर डुंकल ने गैट के भावी स्वरूप पर 500 पृष्ठों की अपनी प्रस्ताव सूची पेश की। इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए 17 अप्रैल, 1992 तक का समय दिया गया।

विकासशील देशों ने डुंकल प्रस्तावों का विरोध किया। क्योंकि इसमें कृषि सब्सिडी, बौद्धिक सम्पदा अधिकार (पेटेंट, कॉपीराइट, ट्रेडमार्क), विदेशी निवेश उपायों तथा सेवाओं को भी शामिल करके विकासशील देशों की मांगों और आवश्यकताओं की अनदेखी की गई और विकसित देशों के ही हितों का ध्यान रखा गया। इसमें सबसे अधिक विरोध पेटेंट अधिकारों के बारे में था। कृषि क्षेत्र में इसके लागू होने पर विकासशील देशों को कृषि तकनीक विकसित देशों से खरीदने पर भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। इस तरह डुंकल प्रस्तावों के माध्यम से (GATT) द्वारा विकासशील देशों पर आकर्षित किया। लेकिन उनके विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और (GATT) में विकसित औद्योगिक देशों का ही प्रभुत्व बना रहा। GATT का पुराना रूप उस समय अप्रासंगिक हो गया जब 15 दिसम्बर, 1993 को 117 सदस्य देशों ने सर्वसम्मति से नए GATT को स्वीकृति प्रदान कर दी। यह समझौता 1995 में लागू हुआ और इसी के तहत विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई।

आज विश्व व्यापार संगठन (नया गैट समझौता) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित 28 समझौते को लागू करता है जो उरुग्वे दौर की वार्ता में शामिल थे। यह संगठन पुराने गैट से अधिक व्यापक है। यह बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को संस्थागत व वैधानिक आधार प्रदान करता है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर अपनी सजग दृष्टि रखता है। इसका प्रत्येक सम्मेलन 2 वर्ष के अन्तराल पर होता है। इसका प्रथम सम्मेलन सिंगापुर में हुआ और चौथा सम्मेलन नवम्बर 2001 में दोहा (कतर) में हुआ। तृतीया सम्मेलन सिएटल में 1999 में हुआ, जिसमें विकासशील देशों ने अमेरिका के श्रम मानकों का विरोध किया। अमेरिका श्रम मानकों पर इसलिए जोर दे रहा था ताकि विकासशील देशों ने बने सस्ते माल से प्रतिस्पर्धा में विकसित देशों को बचाया जा सके। 75 विकासशील देशों ने प्रथम बार विश्व व्यापार संगठन को ज्ञापन दिए। विकासशील देशों ने विकसित देशों के ही हितों को हानि पहुंचाई जा रही है। दोहा शिखर सम्मेलन 2005 तक अपने विकास लक्ष्य को प्राप्त करेगा। इस सम्मेलन में भारत व अन्य विकासशील देशों ने जन स्वास्थ्य संबंधी दवाईयों के उत्पादन एवं अधिग्रहण के मामले में बड़ी सफलता प्राप्त की। इससे एड्स, टी.बी., मलेरिया, आदि रोगों से लोगों को बचाने के लिए औषधियों के उत्पादन के मामले में WTO के पेटेंट संबंधी नियम रूकावट पैदा नहीं कर सकते। ये दवाईयां WTO के पेटेंट अधिकारों से बाहर हैं।

इस प्रकार पुराने गैट तथा नए गैट (WTO) के अंतर्गत विकसित तथा विकासशील देशों के विचार-विमर्श की प्रक्रिया उत्तर दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाकर नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को प्रवाहित करने का एक प्रयास है।

3.4.7 पृथ्वी सम्मेलन

प्रथम पृथ्वी सम्मेलन जून 1992 में तथा दूसरा जून, 1997 में हुआ। इनका उद्देश्य पर्यावरण सुरक्षा के मुद्दों पर विचार करना था। प्रथम पृथ्वी सम्मेलन रियो दि जेनेरो (ब्राजील) में 3 से 14 जून, 1992 तक आयोजित हुआ। इसमें विकसित व विकासशील देशों ने पर्यावरण प्रदूषण के लिए एक दूसरे पर आरोप लगाए। विकसित देशों ने कहा कि विकासशील देशों की जनसंख्या विस्फोट की स्थिति के कारण व गरीबी के कारण यह हुआ है। ये देश घने जंगलों का सफाया कर रहे हैं और पर्यावरण संतुलन को खराब कर रहे हैं। इसके विपरीत विकासशील देशों ने कहा कि ऐसा विकसित देशों द्वारा विलासिता की वस्तुओं पर किया गया फिजूलखर्च है जिससे वातावरण में ग्रीन हाऊस प्रभाव में वृद्धि हुई है। इस सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण (विकसित व विकासशील) देशों में निम्नलिखित मुद्दों पर मतभेद उभरे :-

3.4.7.1 जनसंख्या

उत्तर के विकसित देशों ने पर्यावरण के विनाश के लिए विकासशील देशों की अधिक जनसंख्या होने को उत्तरदायी ठहराया। उन्होंने कहा कि अपना पेट भरने के लिए विकासशील देशों की गरीब जनता लगातार वनों को काट रही है। जबकि विकसित देश अपने को इसके लिए उत्तरदायी नहीं मानते। विकासशील देशों का कहना है कि अपनी विलासमयी प्रकृति के कारण विकसित देश पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं। ये देश विश्व के 75 प्रतिशत साधनों का स्वयं प्रयोग करते हैं और 25 प्रतिशत ही शेष विश्व के लिए छोड़ते हैं।

3.4.7.2 तकनीकी हस्तांतरण

गरीब देशों का मानना है कि तकनीकी विकास अपने साथ कुछ दोष भी लेकर पैदा होता है। अत्यधिक तकनीकी विकास पर्यावरण के लिए खतरा भी पैदा करता है। यदि तकनीक का उचित प्रयोग व हस्तांतरण किया जाए तो इससे इसके दोषों से निजात दिलाई जा सकती है। गरीब देश तकनीकी का प्रयोग प्रदूषण कम करने तथा ऊर्जा क्षमता में सुधार करने के लिए प्रयोग करने के पक्ष में हैं। लेकिन विकसित देश इसे भारी कीमत लेकर बेचने के पक्ष में हैं। वे इसका हस्तांतरण नहीं करना चाहते। इसलिए दोनों में मतभेद पैदा होते हैं।

3.4.7.3 ग्रीन हाउस प्रभाव

गरीब देशों का कहना है कि कार्बन डार्डऑक्साइड गैस को बढ़ा रहे हैं। इस सम्मेलन में विकसित देश ग्रीन हाउस प्रभाव को बढ़ाने वाली हानिकारक गैसों में 20 प्रतिशत कटौती करने के पक्ष में थे लेकिन विकासशील देश चाहते थे कि यह कटौती 50 प्रतिशत तक हो। इससे दोनों में मतभेद उभरकर सामने आए।

3.4.7.4 पर्यावरण विनाश

पर्यावरण को दूषित करने का जिम्मा दोनों का है। चाहे विकसित देश हो या विकासशील देश दोनों इसमें समान रूप से भागीदार हैं। लेकिन इस सम्मेलन में विकसित देशों ने विकासशील देशों को और विकासशील देशों ने विकसित देशों को पर्यावरण को प्रदूषित करने के लिए जिम्मेदार ठहराया, इसलिए विकसित देश चाहते हैं कि पर्यावरण को सुधारने का खर्च सांझे रूप में उठाए जाए लेकिन विकासशील राष्ट्र चाहते हैं कि इसका खर्च विकसित राष्ट्र ही उठाए क्योंकि वे विश्व के 75 प्रतिशत संसाधनों का दोहन करते हैं।

3.4.7.5 वन

अमीर देशों का कहना है कि विकासशील देश अपनी आर्थिक मजबूरियाँ के कारण उष्णकटिबंधीय वनों को काट रहे हैं। लेकिन विकासशील देशों का कहना है कि वनों को काटना विकसित राष्ट्रों की ही आवश्यकताओं को पूरा करता है। यदि ऐसा किया जाए तो इससे राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धान्त का भी उल्लंघन होगा।

3.4.7.6 धन

विकासशील देश चाहते हैं कि पर्यावरण सुधार के लिए किए जाने वाले उपायों का खर्च नई संस्था का निर्माण करके ही उठाया जाए। लेकिन विकसित राष्ट्र चाहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र एजेंसियां या विश्व बैंक इस कार्य को करें।

अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद भी इस सम्मेलन में आगामी शताब्दी के लिए विकास तथा पर्यावरण सुधार योजना के लिए धन जुटाने पर आम राय बन गई। विश्व में वनों के संरक्षण सम्बन्धी बातों पर भी इसमें सहमति हुई। अनेक देशों ने 0.7 प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पाद का भाग विकास सहायता के रूप में देने का वचन दिया, इस सम्मेलन में विश्व जैव विविधता सन्धि भी हुई जो 29 दिसम्बर 1993 को लागू हो गई। लेकिन अमेरिका ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए। इसके कारण पर्यावरण सुधार व वन संरक्षण के लिए किसी कोष की स्थापना नहीं हो सकी। लेकिन पर्यावरण की रक्षा के महत्व को अवश्य समझ लिया गया। जापान ने एक अरब डॉलर देकर इस

दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। जर्मनी ने भी प्रति वर्ष 40 करोड़ प्रतिवर्ष देने का वचन दिया। फ्रांस ने भी 0.6 प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय आय से देने का वायदा किया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि विकासशील देशों के साथ-साथ कुछ विकसित देश भी पर्यावरण सुधार तथा वन संरक्षण में आगे जाएं। इसमें पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने के लिए संयमपूर्ण जीवन शैली अपनाने का आग्रह किया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने वनों को सार्वभौम सम्पदा मानने की बात कही तो भारत ने भी कच्चे तेल को सार्वभौम सम्पदा मानने की बात कही क्योंकि इसका उपयोग सम्पूर्ण मानव जाति के लिए होता है। इस प्रकार इस सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण का अन्तर स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आया। इसमें पर्यावरण तकनीकी हस्तांतरण व अमीर देशों द्वारा विकासशील देशों को दी जाने वाली सहायता पर असहमति ही दिखाई दी।

इसके बाद 23 से 27 जून, 1997 को दूसरा पृथ्वी सम्मेलन अमेरिका के शहर न्यूयॉर्क में आयोजित हुआ। इस में 170 देशों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसमें संसार में लगातार कम हो रहे वनों, उनकी नष्ट हो रही प्रजातियों तथा कम होता मत्स्य संसाधनों पर चिंता प्रकट की गई। विकासशील देशों ने विकसित देशों को पर्यावरण तकनीक के विकास के लिए पर्याप्त धन देने में उदारता बरतने का आग्रह किया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने विकासशील देशों को पर्यावरण अनुकूल ऊर्जा स्रोतों के विकास के लिए एक अरब डॉलर की सहायता देने की घोषणा की, लेकिन ग्रीन हाउस प्रभाव में वृद्धि करने वाली गैसों को नियंत्रित करने के किसी मात्रात्मक लक्ष्य पर सहमति नहीं हो सकी। इस प्रकार यह सम्मेलन भी बिना किसी ठोस परिणाम के ही समाप्त हो गया।

इस प्रकार पेरिस वार्ता से प्रारम्भ होने वाला उत्तर-दक्षिण संवाद द्वितीय पृथ्वी सम्मेलन (1997) तक पहुंच गया, लेकिन इसके ऐसे परिणाम नहीं निकले कि नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना हो सके। इसमें पारस्परिक अंतरनिर्भरता के सिद्धान्त का रुख आत्मनिर्भरता की तरफ मुड़ता प्रतीत नहीं हुआ। न ही आज तक विकसित राष्ट्रों का नव-उपनिवेशवादी रवैया कम हुआ है। उनकी यह इच्छा अधिक प्रबल है कि विकासशील देशों पर अपनी साम्राज्यवादी पकड़ मजबूत बनाई जाए। डुंकेल प्रस्ताव नव-साम्राज्यवाद का ताजा उदाहरण है। अजा WTO तथा IMF जैसी मौद्रिक संस्थाएं भी विकसित देशों के ही हितों को पूरा करने में लगी हुई हैं। स्वयं विकासशील देश भी आपसी मतभेदों के शिकार हैं। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर विकासशील देश आवाज तो उठाते हैं; लेकिन उनकी आवाज विकसित देशों की कारगुजारी के आगे दब जाती है। आज अनेक विकासशील देश विकसित देशों द्वारा प्राप्त आर्थिक व तकनीकी सहायता पर ही जी रहे हैं। आज समय की मांग है कि उत्तर-दक्षिण संवाद को प्रभावी बनाने के लिए जापान जैसे विकसित देशों का सहयोग प्राप्त किया जाए। दक्षिण-दक्षिण सहयोग को आधार बनाकर विकसित राष्ट्रों पर अपनी निर्भरता को कम किया जाए और आत्म-निर्भरता को उपयोगी बनाया जाए। इससे उत्तर-दक्षिण संवाद पर आशानुकूल प्रभाव पड़ेगा और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा।

3.5 सारांश

इस अध्याय में विकसित एवं विकासशील देशों के बीच नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हेतु प्रयास है। दक्षिण विकासशील राज्यों का मानना है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्थापित ब्रिटेनवुड व्यवस्था (आई.एम.एफ., वर्ल्ड बैंक तथा गैर/डब्ल्यू.टी.ओ.) उत्तर विकसित राज्यों के पक्ष में है। यह व्यवस्था न्योचित व समानता पर आधारित नहीं है। अतः एक न्योचित व समानता पर आधारित नई व्यवस्था की स्थापना अति अनिवार्य है। इसी सन्दर्भ में दक्षिण के देश विभिन्न प्रकार की गतिविधियों द्वारा इसमें प्रयासरत हैं। इस सन्दर्भ में अत्याधिक तर्कों के बावजूद 1991 तक कुछ नहीं बदला। आज शीतयुद्धोत्तर युग में यह स्थिति ओर जटिल हो गई है तथा 1995 में डब्ल्यू.टी.ओ. की स्थापना ने ब्रिटेनवुड व्यवस्था को और मजबूत कर दिया है तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के संघर्ष को समाप्त प्रायः स्थिति में पहुंचा दिया है।

3.6 प्रश्नावली

1. उत्तर-दक्षिण संवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इससे जुड़े प्रमुख मुद्दों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. उत्तर-दक्षिण संवाद से जुड़े प्रमुख प्रयासों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. उत्तर-दक्षिण संवाद के दक्षिण के राज्यों की असफलता के कारणों का वर्णन कीजिए।
4. शीतयुद्धोत्तर युग में उत्तर-दक्षिण संवाद की प्रासांगिकता का वर्णन कीजिए।

3.7 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

विश्व व्यापार संगठन

अध्याय का ढांचा

4.1 प्रस्तावना

1.1.1 अध्याय के उद्देश्य

4.2 दक्षिण-दक्षिण सहयोग से अभिप्राय

4.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

4.4 दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयास

4.4.1 अंकटाड सम्मेलन

4.4.2 गुप-77 की बैठकें

4.4.3 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन

4.4.4 जी-15 सम्मेलन

4.4.5 दक्षिण आयोग

4.4.6 आसियान

4.4.7 सार्क

4.4.8 हिन्द महासागर क्षेत्रीय समूह

4.4.9 डी-8 शिखर सम्मेलन

4.5 सारांश

4.6 प्रश्नावली

4.7 पाठन सामग्री

4.1 प्रस्तावना

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए विकसित और विकासशील देशों में उत्तर-दक्षिण संवाद की शुरुआत हुई। परन्तु विकसित राष्ट्रों के अपेक्षापूर्ण व अड़ियल व्यवहार के कारण उत्तर-दक्षिण सहयोग की बार सिरें नहीं चढ़ सकी। विकसित देशों पर ऋणों का भार लगातार बढ़ने लगा। उन्हें प्राप्त होने वाली अधिकतर विदेशी सहायता का हिस्सा ब्याज के भुगतान में ही खर्च होने लगा और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध अधिक भेदभावपूर्ण व जटिल होते गए। विकासशील देश यह महसूस करने लगे कि उत्तर दक्षिण सहयोग की बात करना उनके हितों को कोई फायदा नहीं पहुंचा सकता। इसलिए उन्हें दक्षिण-दक्षिण सहयोग की ही बात करनी चाहिए। इसलिए

विकासशील देशों ने दक्षिण के गरीब व अल्प विकसित देशों में ही सहयोग के आधार तलाशने शुरू कर दिए। इसी से दक्षिण-दक्षिण संवाद या सहयोग का नारा बुलन्द हुआ।

4.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नई आर्थिक व्यवस्था के संघर्ष से अवगत कराना है। इस सन्दर्भ में अमीर, विकसित, उत्तर के देशों और गरीब, विकासशील, दक्षिण के राज्यों में दो स्तर पर प्रयास चल रहे हैं। एक उत्तर-दक्षिण के बीच संवाद तथा दूसरा दक्षिण-दक्षिण के बीच सहयोग। इस अध्याय में विकासशील देशों विभिन्न मंचों एवं संगठनों के माध्यम से आपस में सहयोग बढ़ाने की प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इस अध्याय में सहयोग के इन्हीं बिन्दुओं से विद्यार्थियों को अवगत कराना है।

4.2 दक्षिण-दक्षिण सहयोग से अभिप्राय

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकासशील देशों के लिए 'दक्षिण' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। 1945 के बाद समस्त विश्व राजनैतिक शब्दावली में दो भागों – उत्तर (विकसित) तथा दक्षिण (विकासशील) में बंट गया। उत्तर में सभी साम्राज्यवादी ताकतें या विकसित धनी देश थे। उत्तर में साम्राज्यवादी शोषण के शिकार रहे गरीब देश थे। जब इन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की तो इन्हें अपने को आर्थिक पिछड़ेपन की समस्या से ग्रस्त पाया। स्वतन्त्र अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के निर्वहन में भी आर्थिक साधनों की कमी इनके आड़े आई। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अधिक प्रासांगिक बनाने के लिए इन्होंने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना के लिए उत्तर के देशों से उदार रवैया अपनाने का आग्रह किया और इसके परिणामस्वरूप उत्तर-दक्षिण सहयोग के प्रयास शुरू हुए। लेकिन सकारात्मक परिणाम न निकलने से विकासशील देशों ने विकसित देशों के साथ सहयोग की बजाय आपसी सहयोग (दक्षिण-दक्षिण सहयोग) की शुरुआत की। इसके लिए आपसकी विचार-विमर्श की प्रक्रिया शुरू हुई अर्थात् दक्षिण-दक्षिण संवाद का जन्म हुआ। इसके कारण विकासशील देशों में अंतर्निर्भरता के प्रयास तेज हुए।

“विकासशील देशों को दक्षिण-दक्षिण संवाद की प्रक्रिया द्वारा आत्मनिर्भर बनाने तथा उनकी विकसित देशों पर निर्भरता कम करने की प्रक्रिया दक्षिण-दक्षिण सहयोग के नाम से जानी है।” दक्षिण-दक्षिण सहयोग के परिणामस्वरूप विकासशील देशों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इसके अंतर्गत तकनीकी आदान-प्रदान की प्रक्रिया तेज हुई। अति-पिछड़े हुए राष्ट्र भी इसका लाभ उठाकर अधिक विकासशील देशों की श्रेणी में शामिल होने लगे। आज दक्षिण-दक्षिण सहयोग अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्व है।

4.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दक्षिण-दक्षिण सहयोग का आरम्भ 1968 में आयोजित अंकटाड सम्मेलन (नई दिल्ली) से माना जाता है। इसके बाद 1970 में लुसाका सम्मेलन में भी इसकी आवश्यकता पर बल दिया गया। 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा बुलाए गए विशेष सत्र में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आह्वान में इसका विशेष जिक्र हुआ। 1976 में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन तथा चौथे अंकटाड सम्मेलन में विकासशील देशों के आपसी व्यापार तथा सामूहिक अन्तर्निर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया। 1981 में काराकास सम्मेलन में भी इसका उल्लेख हुआ। इसी वर्ष नई दिल्ली में 44 देशों के सम्मेलन में भी दक्षिण-दक्षिण संवाद और सहयोग की बात कही गई। इसमें सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात जैसे धनी देश बुलाए गए थे। ताकि वे अपने गरीब भाईयों के लिए कुछ सहायता दें। लेकिन इनकी भूमिका अधिक सहयोग की नहीं रही। इसके बाद अक्टूबर, 1982 में न्यूयॉर्क में G-77 (विकासशील देशों का समूह) के देशों ने आपसी व्यापार में वृद्धि करने की आवश्यकता पर जोर दिया। 1986 में गुटनिरपेक्ष देशों के हरारे सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण संवाद की बजाय दक्षिण-दक्षिण संवाद पर अधिक ध्यान दिया गया। इसमें राबर्ट मुंगावे ने स्पष्ट कहा कि दक्षिण-दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता के बिना अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार नहीं हो

सकता। इसके बाद उत्तर कोरिया की राजधानी प्योंगयांग में हुई विकासशील देशों के वित्त मंत्रियों की बैठक (1987) में भी दक्षिण-आयोग का गठन करके विकासशील देशों के आपसी सहयोग को नई दिशा देने का प्रयास किया गया। इसके बाद 1991 में G-15 (विकासशील देशों का समूह) के काराकास सम्मेलन में भी निर्धन राष्ट्रों के आपसी सहयोग को बढ़ाने की इसने भी तृतीय विश्व के देशों में आपसी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। आज सार्क, आसियान D-8, G-15, G-77 आदि संगठन भी इस दिशा में कार्य कर रहे हैं और इनके प्रयास निरंतर सफलता की ओर अग्रसर हैं।

4.4 दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयास

दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने वाले प्रमुख मंच अंकटाड, गुप-77, NAM, G-15 दक्षिण आयोग, आसियान, सार्क, हिमतक्षेस तथा D-8 हैं। इनके माध्यम से दक्षिण-दक्षिण संवादों का विकास हुआ और विकासशील देशों के आपसी सहयोग में वृद्धि हुई। इन संस्थाओं के प्रयासों का वर्णन निम्नलिखित है—

4.4.1 अंकटाड सम्मेलन

अंकटाड अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास पर हुए अधिवेशन से पूर्व विदेशी व्यापार तथा सहायता संबंधी समस्याओं पर प्रशुल्क देशों एवं व्यापार पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के तहत विचार किया जाता था। GATT समझौता विकासशील देशों के हितों के अनुरूप नहीं था इसलिए विकासशील देशों की मांग पर आर्थिक सहयोग हेतु नया कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इसे अंकटाड कहा जाता है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के एक स्थायी अंग के रूप में 30 दिसम्बर, 1964 को हुई। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई। अंकटाड का छठा पेरिस सम्मेलन विकासशील देशों के आपसी सहयोग का अच्छा प्रयास था। इसके आठवें कार्टेगेना सम्मेलन (1992) में विकास की नई सांझेदारी की बात कही गई। जिसमें संसार के 40 विकासशील देशों ने द्विपक्षीय अधीकृत ऋण को माफ करने की अपील की और ऋण मांग व भुगतान सेवाओं में कटौती के लिए तुरन्त प्रयास करने को कहा गया। इसमें उरुग्वे वाता (GATT) पर असंतोष प्रकट किया। इसमें विकासशील देशों की बढ़ी हुई संख्या के आधार पर अधिकृत विकास सहायता में भी वृद्धि करने की बात दोहराई। इसका नौवा सम्मेलन मई 1996 में अफ्रीका के मिडरैंड शहर में सम्पन्न हुआ जिसमें 134 देशों के 2000 के लगभग अधिकारियों ने हिस्सा लिया। इसमें कहा गया कि जो विकासशील देश अधिक विकास को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें कम विकसित देशों की सहायता करनी चाहिए। इसके दसवें सम्मेलन (2000 में बैंकाक में) में विश्व व्यापार के मुद्दे पर आपसी बातचीत में गतिरोध उत्पन्न हो गया। इसमें बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली का लाभ अल्पविकसित देशों को उसके साथ जोड़कर पहुंचाने की बात पर जोर दिया गया। लेकिन विकसित देशों के अड़ियल व्यवहार के कारण इसे अधित सफलता नहीं मिल सकी। फिर भी अंकटाड का मंच विकासशील देशों के मध्य आपसी बढ़ाने के लिए दक्षिण-दक्षिण संवाद का महत्वपूर्ण अंग है।

4.4.2 गुप-77 की बैठकें

सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र संघ के सदस्य बने, उनमें से 2/3 सदस्य अफ्रीका से थे। इन देशों ने अपने आप को G-77 कहना शुरू कर दिया। इस संगठन की स्थापना U.N.O. के तत्वाधान में 1964 में ही की गई। इसके अधिकतर सदस्य तृतीय विश्व के देश हैं। अपने समान आर्थिक हितों के कारण ये देश नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात करते हैं। इसकी 1982 की नई दिल्ली में बैठक के अंतर्गत 44 विकासशील राष्ट्रों के सैकड़ों प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें सार्वभौम अर्थव्यवस्था में हो रहे ह्रास पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई और औद्योगिक देशों के संरक्षणवाद की भी व्यापक निन्दा की गई। इसमें कृषि में आत्म-निर्भरता, विश्व बैंक (ऋजा) में

परस्पर सम्बन्ध का निर्माण, तकनीकी सहयोग के लिए बहुराष्ट्रीय वित्तीय सुविधा का निर्माण आदि बातों पर ध्यान दिया गया। इसमें सामूहिक आत्म-निर्भरता के लिए सहयोग को महत्व दिया गया।

G-77 का एक अंतरंग (internal) समूह भी है जिसे G-24 के नाम से जाना जाता है। यह विकासशील देशों के विभिन्न मुद्दों पर बातचीत करता है। इसके वित्त मन्त्रियों की 49वीं बैठक (वॉशिंगटन, 1993) में मुद्रा मामलों में दक्षिण-दक्षिण सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह G-77 के साथ मिलकर ही कार्य करता है। G-77 में 2000 में हुए हवाना सम्मेलन में विकासशील देशों के विकास मुद्दों को प्राथमिकता देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की आवश्यकता महसूस की गई। इसमें अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से प्रार्थना की गई कि उसे ऐसे प्रयास करने चाहिए जिनसे विकासशील देशों के आर्थिक विकास में आई रुकावटों का निराकरण हो। इन रुकावटों को हटाने के लिए पारस्परिक सांझेदारी व स्वतन्त्रताओं के आधार पर विकसित तथा विकासशील देशों की वार्ता का आह्वान किया गया। आज G-77 में ऐसे देश हैं जो साम्राज्यवादी शोषण का शिकार रह चुके हैं। यह संगठन एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के ऐसे देशों की एकता व सहयोग का प्रतीक है। ये देश समुद्री कानून, शस्त्र नियंत्रण, अणु ऊर्जा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आदि मुद्दों पर लिए जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों को विकासशील देशों के हितों की तरफ मोड़ना चाहते हैं ताकि विकासशील देश भी आर्थिक विकास की धारा में शामिल हो सकें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि G-77 दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने का अच्छा प्रयास है।

4.4.3 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का जन्म 1961 के बैलग्रेड, सम्मेलन में हुआ। इसमें अधिकतर नवोदित स्वतन्त्र विकासशील देश शामिल हैं। 1975 में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों के लीमा सम्मेलन में विकासशील देशों को आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए संहति कोष की स्थापना करने की स्वीकृति हुई। यह दक्षिण-दक्षिण सहयोग का महत्वपूर्ण प्रयास था। 1976 में गुटनिरपेक्ष देशों के कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बहुराष्ट्रीय औषधीय कम्पनियों पर निर्भरता की बजाय परस्पर सहयोग की योजना तैयार करने पर बल दिया। इसमें कृषि, खाद्यान्न तथा संचार-अवरोधों के मामलों पर भी नए उपाय तलाशने की बात कही गई। सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुझाव तृतीय विश्व बैंक की स्थापना के बारे में दिया गया। इस तरह इस सम्मेलन में दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि करने वाले महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए। 1986 के हरारे सम्मेलन में भी उत्तर-दक्षिण संवाद की बजाय दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया। इसमें विकासशील देशों में आपसी सहयोग को बढ़ाने के लिए एक आयोग गठित करने का निर्णय लिया गया। दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों की एक बैठक जून, 1987 में भी हुई। इसमें विकासशील देशों के बीच सहयोग को बढ़ाने व गतिशील बनाने के लिए नए ढंग प्रयोग करने पर जोर दिया गया। इसमें विकासशील राष्ट्रों की सामूहिक आत्म-निर्भरता की भावना को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया गया। सितम्बर 1989 के बैलग्रेड सम्मेलन में भारत के प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी ने उत्तर-दक्षिण सहयोग में वृद्धि करने के लिए संस्थागत ढांचे में बदलाव लाने की बात कही। इस सम्मेलन में आपसी पूंजी निवेश प्रवाह तथा आपस में प्राथमिकता के आधार पर तकनीकी हस्तांतरण को मुख्य मुद्दा बताया गया। इसके बाद 1992 व 1995 में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मंत्रालय की 1996-97 की रिपोर्ट में कहा गया कि कुछ के पास पर्याप्त धन राशि है तथा कुछ के पास अच्छी तकनीक है। इसलिए उनके लिए यही हितकर होगा कि वे उत्तर के देशों की तरफ भागने की अपेक्षा आपस में ही पूंजी व तकनीक का आदान-प्रदान करें। इससे दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा मिलेगा। सम्मेलन में आपसी सहयोग बढ़ाने पर बल दिया गया और विकसित देशों पर उनकी निर्भरता कम होगी। इस प्रकार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने भी दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने की दिशा में एक सुदृढ़ मंच का काम किया।

4.4.4 जी-15 सम्मेलन

G-15 विकासशील देशों का एक समूह है। यह तृतीय विश्व के विकास के लिए एक आन्दोलन का रूप धारण करता

जा रहा है। इसका पहला शिखर सम्मेलन 1 जून, 1990 को कुआलालम्पुर में हुआ। इसका उद्देश्य दक्षिण-दक्षिण सहयोग की कार्यवाही में गति लाना था। इस सम्मेलन में चिकित्सा और सुगन्धित पौधों के लिए एक जिंस बैंक की स्थापना तथा सौर ऊर्जा, सिंचाई पम्प, छोटे रेफ्रीजरेटर, कोर्स और डायर्स के वास्ते सौर ऊर्जा की कार्यप्रणाली की विकास-इन दो परियोजनाओं पर आपसी सहयोग बढ़ाने पर बल दिया गया। G-15 के दूसरे शिखर सम्मेलन (काराकास, 1991) में गरीब देशों को अमीर देशों के विरुद्ध एकजुट रहने का आह्वान किया। इसमें इस बात पर बल दिया गया कि वे ऐसी आर्थिक नीतियां बनाए कि उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था का विकास करने के अवसर प्राप्त हो सकें। इसमें बाहरी ऋणों के विषय में सह-उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर ठोस उपाय करने पर भी जोर दिया गया। इसके बाद G-15 के डकार सम्मेलन (1992) में भी नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के मुद्दे पर सामूहिक कार्यवाही पर बल दिया गया। G-15 के पहले शिखर सम्मेलन की योजनाओं को आगे बढ़ाते हुए सात नई परियोजनाओं को इस सम्मेलन में शामिल किया गया। भारत में G-15 को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अफ्रीका में एक पेशेवर प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करने का भी आग्रह किया गया। इसके बाद G-15 का चौथा शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1993 में नई दिल्ली में हुआ। इसमें अधिकतर शासनाध्यक्ष शामिल नहीं हो सके। इसलिए यह अधिक सफल नहीं रहा। इसके पश्चात G-15 के अर्जेन्टीना सम्मेलन (1995) में विकासशील देशों के बीच व्यापार और निवेश के उदारीकरण, सरलीकरण और संवर्द्धन तथा तकनीक के हस्तांतरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। G-15 के हरारे शिखर सम्मेलन (1996) में भी व्यापारिक मुद्दे ही प्रमुख रहे। इसमें विकसित देशों के रम मानकों का विरोध किया गया। G-15 के इस सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति में यह कहा गया कि WTO को विकसित देशों के दबाव में नहीं आना चाहिए। भारत ने कहा कि श्रम मुद्दे व्यापार से संबंधित न होने के कारण विश्व व्यापार संगठन से बाहर ही रखे जाने चाहिए। विकासशील देशों के समूह G-15 के सातवें सम्मेलन (कुआलालम्पुर, 1997) में 16वें सदस्य के रूप में केन्या को प्रवेश दिया गया। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास, विकासशील देशों की चिन्ताओं के मसले और उनसे निपटने की नीतियों पर विचार किया गया। इसमें विशेष रूप से निवेश और तकनीकी सहयोग का विस्तार करके दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने पर बल दिया गया। G-15 के नौवें शिखर सम्मेलन (जमैका, 2000) में वैश्वीकरण की प्रक्रिया में उचित परिवर्तनों की मांग उठाई गई। इस तरह G-15 के सम्मेलनों द्वारा विकासशील देशों में आपसी सहयोग व समन्वय की भावना का विकास किया गया है। अपने सीमित समय में ही G-15 एक शक्तिशाली कार्यक्रम के रूप में उभरा है। यह निरन्तर दक्षिण-दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाते हुए विकासशील देशों में आपसी तकनीकी सहयोग व पूंजी निवेश द्वारा आत्मनिर्भरता की स्थापना के प्रयास करने का कृतसंकल्प है।

4.4.5 दक्षिण आयोग

हरारे निर्गूट सम्मेलन में 1986 में विकासशील देशों में आपसी सहयोग में वृद्धि करने के लिए दक्षिण आयोग की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ। इसके बाद 2 अक्टूबर, 1987 को इस अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने जेनेवा में अपना कार्यालय खोला। तंजानिया को इस 28 सदस्यीय आयोग का अध्यक्ष तथा भारत को महासचिव का पद प्राप्त हुआ। आयोग के उद्घाटन पर इसके अध्यक्ष न्येरेरे ने कहा कि "अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और ऋणदाता देशों द्वारा लागू की गई नीतियों से विकासशील देशों को निराशा ही हुई है।" इसकी दूसरी बैठक मार्च, 1988 को कुआलालम्पुर में हुई। इस बैठक में सदस्यों ने आत्मनिर्भरता के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग तथा उत्तर दक्षिण सम्बन्धों की समस्याओं पर एकजुट होने का वचन लिया। इसकी अध्यक्षता भी तंजानिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे ने की। इस तरह यह आयोग दक्षिण-दक्षिण सहयोग को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण करता आ रहा है।

4.4.6 आसियान

इसकी स्थापना 1967 में हुई। इसका पूरा नाम है – दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्रसंघ। इसमें लाओस, कम्बोडिया,

वियतनाम, ब्रेनेई, थाईलैंड, सिंगापुर, फिलीपींस, मलेशिया तथा इंडोनेशिया शामिल है। इसका उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विकास को बढ़ावा देना है। यह कृषि, व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में साझे मामलों पर परस्पर सहयोग को बढ़ावा देता है। इसका लक्ष्य 2003 तक इस क्षेत्र को मुफ्त व्यापार क्षेत्र बनाना है। 1998 में इसकी पांचवीं बैठक मनीला में हुई। इसमें पूंजी निवेश, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्रों में सहयोग बनाए रखने तथा बढ़ाने की नीति का अनुसरण किए जाने का समर्थन किया। यह संगठन निरंतर प्रगति की राह पर कार्य करते हुए दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में आर्थिक विकास के लिए सहयोग करने की दिशा में कार्यरत है।

4.4.7 सार्क

इसकी स्थापना 1985 में हुई। इसका पूरा नाम 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' है। इसमें भारत, नेपाल, पाकिस्तान, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका तथा मालदीव हैं। इसका मुख्य उद्देश्य दक्षिण एशिया में विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देना है। दक्षिण एशिया व्यापार समझौता 'साप्टा' (SAPTA) स्वीकार करने के बाद दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के नये युग की शुरुआत हुई। 1987 के काठमाण्डू शिखर सम्मेलन में आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ाने पर विचार हुआ। इसमें दक्षिण-एशिया को परमाणु विहीन क्षेत्र घोषित करने पर विचार हुआ। इसके 1991 में हुए कोलम्बो सम्मेलन में तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में आपसी सहयोग को उचित माना गया। इसका 11वां शिखर सम्मेलन जनवरी, 2002 को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में सम्पन्न हुआ। इसमें व्यापार, वित्त तथा निवेश में आपसी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया गया ताकि दक्षिण एशिया एशिया अर्थव्यवस्था के एकीकरण की ओर अग्रसर हो सके। इस तरह लगातार यह संगठन दक्षिण एशिया के देशों में आपसी सहयोग की प्रवृत्ति का विकास करने की दिशा में कार्य कर रहा है।

4.4.8 हिन्द महासागर क्षेत्रीय समूह

इसकी स्थापना मार्च, 1987 में हुई। इसका पूरा नाम – हिन्द महासागर तटीय क्षेत्रीय सहयोग संगठन। इसमें हिन्द महासागर के तट पर बसे हुए देश – इण्डोनेशिया, भारत, आस्ट्रेलिया, मोजाम्बिक, मलेशिया, श्रीलंका, सिंगापुर, केनिया, मॉरीशस आदि देश शामिल हैं। इसका उद्देश्य इन देशों में आपसी सहयोग को बढ़ावा देना है और आर्थिक एकजुटता के आधार पर हिन्द महासागर के बाजार का निर्माण करना है। यह संगठन क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में सहयोग की भावना का विकास कर रहा है।

4.4.9 डी-8 शिखर सम्मेलन

यह विकासशील देशों का समूह है। यह संगठन 8 मुस्लिम विकासशील देशों में आपसी सहयोग के आधार पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए कार्य करता है।

4.5 सारांश

इस तरह दक्षिण-दक्षिण संवाद को मजबूत बनाकर दक्षिण के देशों को एकजुट किया जा सकता है। इसी पर इन देशों की आर्थिक आत्मनिर्भरता का विकास निर्भर करता है। विकासशील देशों में पर्याप्त मात्रा में संसाधन हैं। कुछ देशों के पास तो पूंजी है और कुछ के पास तकनीकी ज्ञान है। इन देशों को विकसित देशों से मदद लेनी की बजाय आपस में ही तकनीकी ज्ञान व पूंजी का हस्तांतरण करना चाहिए। लेकिन इसके रास्ते में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन देशों में आपसी मतभेद हैं। ये आपसी सहयोग की बजाय विकसित राष्ट्रों की तरह अधिक झुकाव रखते हैं। आज एशिया के तेल निर्यातक देश चाहें तो वे गरीब विकासशील देशों की आर्थिक सहायता कर सकते हैं, लेकिन समन्वित दृष्टिकोण के अभाव में वे ऐसा करने में अयोग्य हैं। यदि विकासशील देशों को आत्मनिर्भर बनना है तो पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर, उन्हें एक मंच पर आना ही होगा। इसके बिना उनका कल्याण सम्भव नहीं

है। यदि वे एकजुट होकर उत्तर के देशों पर अपना दबाव बनाने में सफल होते हैं तो अवश्य ही वे नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए विकसित राष्ट्रों को मना सकेंगे और वर्तमान अन्यायपूर्ण और असमान आर्थिक सम्बन्धों का अंत करके दक्षिण के देशों में नए युग की शुरुआत करेंगे।

4.6 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण-दक्षिण सहयोग के विभिन्न बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए।
2. दक्षिण-दक्षिण सहयोग से आपका क्या अभिप्राय है। इस सहयोग हेतु किन-किन मंचों/संगठनों में बातचीत हो रही है?
3. शीतयुद्धोत्तर युग में दक्षिण-दक्षिण सहयोग की प्रासांगिकता का वर्णन कीजिए।
4. विकासशील देशों के मध्य आपसी आर्थिक सहयोग स्थापित न होने के कारणों का वर्णन कीजिए।

4.7 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

नव-उपनिवेशवाद

अध्याय का ढांचा

5.1 प्रस्तावना

5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

5.2 नव-उपनिवेशवाद का अर्थ

5.3 नव-उपनिवेशवाद के प्रकार

5.3.1 आर्थिक रूप से पराश्रित देश

5.3.2 पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश

5.4 नव-उपनिवेशवाद के कारण

5.4.1 उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय

5.4.2 यूरोपीय ताकतों का कमजोर होना

5.4.3 नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियां

5.4.4 साम्राज्यवादी ताकतों की मजबूरियां

5.4.5 विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां

5.5 नव-उपनिवेशवाद के साधन

5.5.1 बहुराष्ट्रीय निगम

5.5.2 विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज

5.5.3 हथियारों की पूर्ति

5.5.4 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं

5.5.5 आश्रित या उपग्रही-राज्य

5.6 सारांश

5.7 प्रश्नावली

5.8 पाठन सामग्री

5.1 प्रस्तावना

यूरोप के देशों ने एक लम्बे समय एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपना साम्राज्यवादी जाल फेंकन उनका राजनीतिक व आर्थिक शोषण किया लेकिन उन देशों में उभरने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने साम्राज्यवादी देशों के

मनसूबों पर पानी फेर दिया। धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देश एक-एक करके साम्राज्यवादी चुंगल से मुक्ति पाने लगे। अब साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने दिन लदते नजर आए तो उन्होंने औपनिवेशिक शोषण के नए-नए तरीके तलाशने शुरू कर दिए। उन्होंने इस प्रक्रिया में उन देशों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद का सहारा लिया। स्वतन्त्र होने के बाद नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नहीं रहे कि वे अपना स्वतन्त्र आर्थिक विकास कर सकें। उनके आर्थिक विकास में सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी देशों ने डॉलर की कूटनीति का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और धीरे-धीरे वे नए साम्राज्यवाद के जाल में इस कदर फंस गए कि आज तक भी वे विकसित देशों के ही पराधीन हैं। इस व्यवस्था को नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है।

5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य नव-उपनिवेशवाद की अवधारणा से अवगत कराना है। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट कराना है कि उपनिवेशवाद को बढ़ाना किन कारकों के कारण मिलता है। नव-उपनिवेशवाद के तरीकों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। उपरोक्त स्थिति से विद्यार्थियों को उन नवीन प्रवृत्तियों का बोध कराना है जो आर्थिक शोषण के माध्यम से गरीब, विकासशील राष्ट्रों की स्थिति को कमजोर बनाती है। अतः नव-उपनिवेशवाद की समग्र स्थिति से अवगत करा कर वर्तमान वैश्वीकरण की परिस्थिति में इसकी भूमिका दर्शाना है।

5.2 नव-उपनिवेशवाद का अर्थ

यह एक नई अवधारणा है। इसका प्रयोग नए प्रकार के साम्राज्यवाद के लिए किया जाता है। इसे डॉलर साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, नया-साम्राज्यवाद आदि नामों से भी जाना जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिकतर पराधीन राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गए लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी तरह साम्राज्यवाद का शिकार बने रहे। उनकी यह स्थिति आधुनिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद कहलाती है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो एक शक्तिशाली विकसित राष्ट्र या अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राष्ट्र का सम्बन्ध एक आर्थिक या उपग्रह उपनिवेश को दर्शाती है। बहुराष्ट्रीय निगम इसके प्रमुख साधन हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक रूप से पराधीन या उपग्रह उपनिवेश का अधिक से अधिक शोषण करके उस पर अपना वर्चस्व बनाए रखना है।

“आर्थिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जिसमें कोई देश प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त प्रतीत होने पर भी परोक्ष रूप से उनके निर्देशों का पालन करने पर बाध्य होता है।”

राष्ट्रपति सुकार्नो ने बाण्डुंग सम्मेलन में 1955 में कहा था कि “राष्ट्र के अन्दर छोटे से विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक नियंत्रण, बौद्धिक नियंत्रण तथा वास्तविक भौतिक नियंत्रण के रूप में यह एक नए लिबास में उपनिवेशवाद है।” उसका स्पष्ट इशारा बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती भूमिका की तरफ था। आज विकसित देश अपना साम्राज्यवादी शिकंजा कसने के लिए इनका सहारा ले रहे हैं। इसके द्वारा निर्धन देशों के कच्चे माल पर नियंत्रण पूंजी निर्यात व आसान विनिमय दरों के नाम पर दीमक की तरह घुसकर किया जा रहा है ताकि वे देश कच्चे माल की पूर्ति तथा तैयार माल की बिक्री का केन्द्र बन जाए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नव-उपनिवेशवाद साम्राज्यवादी नियंत्रण की ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रयोग विकसित राष्ट्र नवोदित अल्प विकसित राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करने के लिए करते हैं। ये राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन आर्थिक सहायता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी ज्ञान, उत्पादन के क्षेत्र में विकसित देशों के ऊपर ही आश्रित होते हैं। इनकी विकसित देशों पर निर्भरता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ये अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक रूप से भी स्वतन्त्र नहीं रह जाते।

5.3 नव-उपनिवेशवाद के प्रकार

आर्गेंसकी ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों – राजनीतिक उपनिवेशवाद, आर्थिक दृष्टि से पराधीन देश तथा पिछलग्गू देश का वर्णन किया है। आधुनिक युग में राजनीतिक दृष्टि से तो सभी देश स्वतन्त्र हो चुके हैं। इसलिए इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। वह अन्तिम दो को ही नव-उपनिवेशवाद के अंतर्गत शामिल करता है।

5.3.1 आर्थिक रूप से पराश्रित देश

ये देश राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं लेकिन आर्थिक सहायता के लिए विकसित राष्ट्रों की ओर देखते हैं। इन देशों में आर्थिक पिछड़ापन पाया जाता है। लोगों की निर्धनता व अस्थिर राजनीतिक व्यवस्थाएं इसके सूचक हैं। लोगों की व्यक्तिगत आय व राष्ट्रीय आय नाम मात्र की होती है। एशिया व अफ्रीका के नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र इस श्रेणी में शामिल हुए। लम्बे समय तक आर्थिक विकास के लिए उन्हें विदेशी सहायता पर निर्भर हुए। उनमें से अधिकतर आज भी आर्थिक रूप से पराधीन राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं। विकसित देशों ने इन देशों में अधिक से अधिक पूंजी लगाकर इनमें अपनी उत्पादन अध्याययां स्थापित कर रखी हैं। कई देशों में तो यह निवेश 80 प्रतिशत तक है। ये देश पराश्रित राष्ट्रों के राजनीतिक जीवन को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे देशों को आर्थिक पराश्रित, उपनिवेश कहा जाता है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान, थाईलैंड, घाना आदि एशिया व अफ्रीका के देशों में डॉलर साम्राज्यवाद की नीति का प्रसार इस प्रकार के उपनिवेशवाद का ही एक हिस्सा है।

5.3.2 पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश

यह एक ऐसा राष्ट्र होता है जो औपचारिक रूप से तो स्वतन्त्र होता है लेकिन राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से किसी विदेशी शक्ति के अधीन होता है। वे देश स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करने में सक्षम नहीं होते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक देशों में सोवियत संघ के नियंत्रण वाली साम्यवादी सरकारें स्थापित हुईं। वे सभी देश पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश की श्रेणी में आते थे। आज अफगानिस्तान में अमेरिका समर्थित सरकार है। इसलिए अफगानिस्तान अमेरिका का पिछलग्गू देश है। आवश्यकता पड़ने पर पिछलग्गू देशों को अनेक आकाओं द्वारा सैनिक सहायता भी उपलब्ध कराई जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों महाशक्तियों ने अपने पिछलग्गू देशों की हर प्रकार से मदद की थी। आर्थिक रूप से पराश्रित देशों की तुलना में इन उपनिवेशों की स्थिति अधिक खराब होती है।

5.4 नव-उपनिवेशवाद के कारक

द्वितीय विश्वयुद्ध तक पहुंचते-पहुंचते साम्राज्यवादी शक्तियाँ इतना अधिक कमजोर हो गईं कि वे पराधीन राष्ट्रों पर अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य सिद्ध होने लगे। साथ में पराधीन देशों में निरन्तर उभर रही राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप उभरे-स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को बहुत हानि पहुंचाई। दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचाया। वे अब इस स्थिति में नहीं रहे कि आन्दोलनकारी ताकतों से लोहा ले सकें। इसलिए उन्होंने अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण ढीला कर दिया और उपनिवेशी शासन का अन्त होने लगा। लेकिन इसके बाद एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जिसे नव-उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। यह विकसित साम्राज्यवादी देशों द्वारा अपनी खण्डित अर्थव्यवस्थाओं को पटरी पर लाने के लिए किए गए प्रयासों का महत्वपूर्ण हिस्सा था। साम्राज्यवादी ताकतें चाहती थीं कि आर्थिक नियंत्रण द्वारा वे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण लादकर उनसे पहले जैसा ही लाभ उठा सकती हैं। इसके जन्म के निम्नलिखित कारण हैं—

5.4.1 उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय

धीरे धीरे औपनिवेशिक शोषण के शिकार देशों में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। इससे वहां पर स्वतन्त्रता

आन्दोलन का तेजी से विकास होने लगा। भारत जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने औपनिवेशिक ताकतों को यह अहसास करा दिया कि अब उनका नियंत्रण ज्यादा दिन तक नहीं टिक सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकृति मिल चुकी थी। इसलिए समय की नाजुकता के देखकर उन्हें अपनी उपनिवेशों को स्वतन्त्र करना पड़ा। परन्तु उन देशों की राजनीतिक अस्थिरता ने इन देशों को अपना आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने का मौका दे दिया। इससे पुराना उपनिवेशवाद नए रूप में परिवर्तित हो गया।

5.4.2 यूरोपीय ताकतों का कमजोर होना

दो विश्व युद्धों ने यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर हानि पहुंचाई। अब उपनिवेशों में शासन चलाना उनके सामर्थ्य से बाहर हो गया। लगातार उठ रहे मुक्ति आंदोलनों ने भी बड़े-बड़े साम्राज्यों को नष्ट कर दिया। भारत में इंग्लैण्ड को जो हानि उठानी पड़ी, उससे भयभीत होकर अंग्रेजों ने यहा पर अपना औपनिवेशिक शासन जारी रखने में असमर्थता जाहिर की। नवोदित प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। 1949 में चीन एक साम्यवादी शक्ति के रूप में उभरा। अब वहां पर साम्राज्यवादी ताकतों का टिकना मुश्किल हो गया। माओ ने सभी साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर परिणाम की चेतावनी दे डाली। लेकिन सभी नवोदित राष्ट्र चीन व भारत जैसे शक्तिशाली नहीं थे। अधिकतर देशों में अपने आर्थिक विकास का सामर्थ्य नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने पुराने साहूकारों पर ही निर्भरता की इच्छा व्यक्त की। सभी साम्राज्यवादी ताकतें आर्थिक सहायता के नाम पर अपने अधीन रहे देशों में हस्तक्षेप के प्रयास करने लगी। इससे वहां नव-उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

5.4.3 नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियां

सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी आर्थिक मदद की आवश्यकता अनुभव हुई। लम्बे समय औपनिवेशिक शासन के शिकार रह चुके अधिकतर देशों के आर्थिक साधनों का दोहन साम्राज्यवादी देश कर चुके थे। इन नवोदित राष्ट्रों के पास अपने आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त पूंजी थी और न ही तकनीकी ज्ञान, अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इन देशों ने पुरानी उपनिवेशीय ताकतों से कर्ज लेने पर मजबूर कर दिया। इससे इन देशों में पुरानी उपनिवेशीय ताकतें फिर से अपना जाल बिछाने में कामयाब हुईं और नए-उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

5.4.4 साम्राज्यवादी ताकतों की मजबूरियां

दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी ताकतों को बहुत ज्यादा आर्थिक हानि पहुंचाई। उपनिवेशवादी शासन के अन्त के साथ ही उनके कच्चे माल के स्रोत तथा तैयार माल बेचने वाली मंडिया समाप्त हो गईं। इससे साम्राज्यवादी देशों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में मंडियों की खोज व कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए क्या किया जाए। ऐसे समय में नवोदित राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियों का लाभ उठाने का विचार उनके मन में आया। इसलिए उन्होंने आर्थिक सहायता के नाम पर इन देशों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे वहां नव-उपनिवेशवादी शासन की स्थापना के प्रयास किए जिससे वहां पर नव-उपनिवेशवाद की धारणा अस्तित्व में आई। इस व्यवस्था ने साम्राज्यवादी ताकतों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने में भरपूर सहायता पहुंचाई।

5.4.5 विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ में शीत-युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों महाशक्तियों ने अपनी-अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए नए राष्ट्रों को अपने गुटों में शामिल करने का निर्णय किया। विदेशी सहायता शस्त्र पूर्ति, बहुराष्ट्रीय निगमों पर नियंत्रण आदि साधनों द्वारा इन महाशक्तियों ने नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों को आर्थिक रूप से अपने नियंत्रण में ले लिया। इससे उपग्रही राज्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उनकी सभी आर्थिक नीतियां एक-एक करके नव-उपनिवेशवाद को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए ही थी। आज भी

अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से अपने नव-उपनिवेशवादी नियंत्रण को सुदृढ़ बना रहे हैं।

5.5 नव-उपनिवेशवाद के साधन

धनी व शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में अपने नियंत्रण के अलग-अलग तरीके अपनाते हैं। उनका मुख्य ध्येय अविकसित देशों पर अपना नया साम्राज्यवादी नियंत्रण स्थापित करना है। इसके लिए उनके द्वारा अपनाए गए साधन निम्नलिखित हैं-

12.5.1 बहुराष्ट्रीय निगम

सभी धनी देशों द्वारा विश्व के सभी भागों में आर्थिक तथा औद्योगिक अध्यायों को नियंत्रित करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का जाल बिछाया गया है। अपनी आर्थिक शक्ति व कार्यक्षेत्र में वृद्धता के कारण ये अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी देशों में अपनी मनमानी करने लगते हैं। इनका उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। विकासशील देशों में ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां प्रत्यक्ष पूंजी निवेश करके पूंजीवादी देशों के लिए कच्चा माल तथा प्राथमिक उत्पादन की पूर्ति की गारन्टी देते हैं। ये सर्वाधिक निवेश प्राथमिक उत्पादन तथा कच्चा माल के क्षेत्र में करते हैं। ये जीवन में मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं के निवेश में सर्वाधिक मुनाफा देखते हैं। विकासशील देशों में सस्ते श्रम, कच्चे माल तथा शोषण की तीव्रता के कारण पूंजी निवेश से अधिक मुनाफा होता है। 1996 में भारत में 741 विदेशी कम्पनियों ने निवेश कर रखा था। भारत जैसे विकासशील देश में भी इन कम्पनियों को कई गुणा लाभ प्राप्त होता है। अपनी पूंजी की सुरक्षा के लिए ये निगम अपने नियंत्रण वाले देशों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते हैं। ये कम्पनियां विदेशों में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी व्यापार, वाणिज्य तथा उत्पादन व वितरण पर अपना एकाधिकार करने के लिए कार्य कर रहे हैं। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों पर इनका पूरा नियंत्रण है। IBM, GEC तथा Standard Oil जैसी लिए ये अपने अधीन राष्ट्रों के राजनीतिक हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगम नव-उपनिवेशवाद के सबसे अधिक शक्तिशाली साधन हैं और इन्हें सभी विकसित राष्ट्रों का पूरा समर्थन प्राप्त होता है।

5.5.1 विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आर्थिक विकास के लिए पूर्ण रूप से विदेशी सहायता व साम्राज्यवादी कर्ज पर ह निर्भर हैं। अपने कर्ज की आड़ में तथा विदेशी सहायता के नाम पर विकसित राष्ट्र इन देशों को मनमानी शर्तें मानने के लिए बाध्य कर देते हैं। इन्हें कर्ज लेते समय अनेक कठोर शर्तें भी माननी पड़ती हैं। इन देशों का कर्जा दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। निर्यात से प्राप्त आय का अधिकतर हिस्सा साम्राज्यवादी कर्ज का ब्याज चुकाने में लग जाता है और भुगतान संतुलन का घाटा निरंतर बढ़ता ही जाता है। उन्हें इस कर्ज की राशि का प्रयोग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से ही सामान खरीदने के लिए करना पड़ता है। उन्हें व्यापार अवरोधों को समाप्त करने की शर्तें भी माननी पड़ती हैं। सभी शर्तें पूंजी निवेश करने वाले देशों के हितों की पोषक होती हैं। विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले देश को सदैव निवेशक या सहायता प्रदान करने वाले देश के हितों में वृद्धि करने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने पड़ते हैं। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी कर्ज और विदेशी सहायता पर से भी बदतर होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज की होड़ में विकसित देश नव-उपनिवेशवाद का ही पोषण कर रहे हैं।

5.5.2 हथियारों की पूर्ति

आज के आणविक युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को सैनिक व सामरिक दृष्टि से सुरक्षित देखना चाहता है। इसके लिए उन्हें विकसित देशों से शस्त्र खरीदने पड़ते हैं। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण ये देश कई बार कर्जा भी

लेते हैं। आज विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय का अधिकतर हिस्सा हथियार खरीदने पर ही खर्च हो रहा है। महाशक्तियों द्वारा किया जाने वाला शक्ति प्रदर्शन शस्त्र प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है। 1979 में महाशक्तियों का आपसी टकराव विदेशों में पहुंचकर पर्याप्त लाभ दिलाए। इन महाशक्तियों द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद किए गए शक्ति प्रदर्शन इनके शस्त्र उद्योग में आई मन्दी को कम करने में सहायता सिद्ध हुए। आज तृतीय दुनिया के अधिकतर देश अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ से ही हथियार खरीदते हैं। अपनी औपनिवेशिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने तीसरी दुनिया के देशों में अपनी सैनिक अड्डे खोल रखे हैं। हथियारों की पूर्ति के रूप में ये देश नव-उपनिवेशवाद को ही बढ़ावा दे रहे हैं।

5.5.3 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं

आज विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन कर रही हैं। ये संस्थाएं ऋण देते समय कठोर शर्तें लगाकर नव-उपनिवेशवाद का ही पोषण करती हैं। देशों को दिया जाने वाला ऋण हमेशा राजनीतिक प्रतिबन्धों पर आधारित होता है। वह हमेशा विकसित राष्ट्रों के हितों का ही पोषक होता है। इसीलिए तृतीय विश्व के देश नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग करते रहते हैं। उनका आरोप है कि विश्व की आर्थिक संस्थाएं साम्राज्यवादी हितों को पोषित करने वाली है। ये निरंतर पिछड़े हुए या विकासशील देशों के आर्थिक व राजनीतिक हितों पर कुठाराघात करती हैं। इस तरह ये उपनिवेशवाद के नए रूप को बढ़ावा दे रही हैं।

5.5.4 आश्रित या उपग्रही-राज्य

साम्राज्यवादी शक्तियां आर्थिक सहायता देकर पिछड़े राष्ट्रों को निरंतर कमजोर करती रहती हैं। वहां के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में साम्राज्यवादी या निवेशकर्ता देश का पूरा हस्तक्षेप बढ़ जाता है। विदेशी ताकत आश्रित देश के व्यापार पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखती है तो उनका नियंत्रण धीरे-धीरे स्थायी रूप प्राप्त कर लेता है और यह निर्भरता निरन्तर बढ़ती ही रहती है और वह अन्त में उपग्रही राज्य का रूप ले लेता है। अब साम्राज्यवादी ताकत आर्थिक क्षेत्र की बजाय राजनीतिक क्षेत्र की तरफ अपना ध्यान लगा लेती है। इससे उपग्रही राष्ट्र को अपने आका की हर बात मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। 1990 से पहले सोवियत संघ ने इस प्रकार की नीति का खुलकर प्रयोग किया था। इसके पीछे नव-उपनिवेशवाद के प्रसार की ही भावना विद्यमान रहती है।

5.6 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज भी नव-उपनिवेशवाद के रूप में विकसित राष्ट्र अल्पविकसित तथा विकासशील देशों पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं। दक्षिण के गरीब देश निरंतर नव-उपनिवेशवाद के शोषण का शिकार हो रहे हैं। उत्तर के विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से इन देशों पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए हुए हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों विकासशील व पिछड़े देशों में दीमक की तरह घुस रही हैं। अधिकतर देशों में ये राजनीतिक व्यवहार को भी प्रभावित करने में समर्थ है। अपने हितों की पूर्ति के लिए विकसित राष्ट्र सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का भी सहारा ले रहे हैं। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में अपने आर्थिक या डॉलर साम्राज्यवाद का तेजी से विकास कर रहा है। वह आर्थिक जीवन के साथ-साथ विकासशील व पिछड़े तृतीय विश्व के देशों के राजनीतिक क्रिया-कलापों में भी हस्तक्षेप करने लगा है। यदि उसके उभरते नव-उपनिवेशवाद को न रोका गया तो समस्त विश्व के लिए नया खतरा पैदा हो जाएगा। आज तृतीय विश्व के देशों को एकजुट होकर नव-उपनिवेशवाद की जड़ें उखाड़ने की जरूरत है ताकि नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सके।

5.7 प्रश्नावली

1. नव-उपनिवेशवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इसके प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।
2. नव-उपनिवेशवाद के विस्तार के तरीकों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. क्या विश्व की ज्यादातर समस्याओं का कारण नव-उपनिवेशवाद है? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।
4. क्या समसामयिक वैश्वीकरण प्रक्रिया नव-उपनिवेशवाद का पोषक है? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।

5.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

निर्भरता का सिद्धान्त

अध्याय का ढांचा

6.1 प्रस्तावना

6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

6.2 सिद्धान्त की प्रबलता के कारण

6.3 सिद्धान्त के प्रमुख आधार

6.3.1 निर्भरता पर आधारित

6.3.1.1 संरचनात्मक स्कूल

6.3.1.2 गैर विकास का विकास

6.3.1.3 निर्भरता-विकास स्कूल

6.3.2 विश्व प्रणाली पर आधारित

6.4. प्रमुख विशेषताएं

6.5 आलोचनाएं

6.6 उपयोगिता

6.7 सारांश

6.8 प्रश्नावली

6.9 पाठन सामग्री

6.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्भरता का सिद्धान्त मूल रूप से मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है। मार्क्सवाद के साथ-साथ होबसन व लेनिन के साम्राज्यवाद की अवधारणा ने इसे और मजबूत बना दिया है। परन्तु क्योंकि मार्क्सवाद राज्य के अस्तित्व को नहीं मानते इसीलिए इसे नव-मार्क्सवादी अवधारणा मानना ज्यादा तर्कसंगत होगा। वैसे तो यह अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 1950 के दशक से विद्यमान है, परन्तु 1970 के दशक से ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई है। इस काल के अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक के अध्ययन हेतु राजनीतिक-आर्थिक तत्वों में संबंध पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों में पॉल बरान, पॉल स्वीजी, हेरी मैडगाफ, एंड्रि गुंडर फैंक, अग्रहीरी इमेनुअल, समीर अमीर, इमेनुअल वालरस्टेन आदि प्रमुख हैं।

6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्भरता के सिद्धान्त से परिचित कराना है। इस अध्याय में निर्भरता के सिद्धान्त की प्रबलता के कारणों, विभिन्न दृष्टिकोण, इसकी विशेषताओं, आलोचनाओं व उपयोगिता के बारे में विस्तारपूर्वक बताना है। इस सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी के साथ इसके द्वारा राजनीतिक गतिविधियों का समझना भी सम्भव हो सकेगा। अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण बदलाओं का ज्ञात करवाने का एक उत्तम तरीका है।

6.2 सिद्धान्त की प्रबलता के कारण

1. सर्वप्रथम, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये विभिन्न बदलावों के परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त को अधिक महत्व मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों के मध्य संबंधों का मुख्य आधार परस्पर अन्तः निर्भरता रहा। धीरे-धीरे यह अंतर्निर्भरता उनके (विशेषकर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की) अस्तित्व का प्रश्न बन गया। परन्तु इसके साथ-साथ विकास का दौर भी जारी रहा। लेकिन यह विकास आर्थिक रूप से समान नहीं रहा। अतः एक दूसरे पर निर्भरता और अधिक उजागर होने लगी तथा इनके प्रभावों के आंकलन की प्रक्रिया में निर्भरता के सिद्धान्त का जन्म हुआ।
2. द्वितीय, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया, अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका के बहुत से राज्य स्वतन्त्र हुए। स्वतन्त्रता के उपरान्त इन राज्यों को राष्ट्र निर्माण की बहुत सी समस्याओं से जूझना पड़ा। तब इन नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों को अनुभव हुआ कि राजनैतिक स्वतन्त्र उपरान्त भी ये राज्य वास्तव में आजाद नहीं हैं। बहुत से आर्थिक मुद्दों पर ये आज भी अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, प्राचीन दृष्टिकोणों के माध्यम से उनकी इन समस्याओं का अध्ययन करना भी सम्भव नहीं रहा था। अतः एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता महसूस होने लगी जो राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के संबंधों के अनुरूप इनकी समस्याओं का अध्ययन कर सके।
3. तृतीय, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दक्षिणी अमेरिकी देशों में से ज्यादातर अपना प्रशासन सुचारु रूप से नहीं चला सके तथा वहां पर अराजकता, राजनैतिक अस्थिरता, प्रशासनिक विफलता आदि सामान्य बात हो गई। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठा कि क्यों इन राष्ट्रों का विकास नहीं हो पा रहा है? किन कारणों से यहां अशांति एवं विफलताएं फैली हुई हैं? इनके कारणों के जांच के बिना इनका समाधान सम्भव नहीं था। और इस जांच हेतु यह पाया गया कि इसमें आर्थिक व राजनैतिक तत्वों के संबंध की जानकारी अति महत्वपूर्ण रहेगी।
4. अन्ततः 1970 के दशक तक आते-आते ज्यादातर तीसरी दुनिया के देश स्वतन्त्र राष्ट्रों की श्रेणी में आ चुके थे। अब उनके राज्यों में राजनैतिक व प्रशासनिक गतिविधियां पूर्ण हो चुकी थी। परन्तु उन राष्ट्रों के समक्ष मुख्य चुनौतियों के रूप में राष्ट्र निर्माण, व्यापार, आर्थिक विकास, औद्योगिक विकास आदि की बहुत सी समस्याएं उपलब्ध थी। इन सभी कारणों से अब राजनैतिक की बजाए आर्थिक विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण होते चले गये। इसलिए बढ़ते हुए आर्थिक महत्व के परिणामस्वरूप निर्भरता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया।

6.3 सिद्धान्त के प्रमुख आधार

निर्भरता का सिद्धान्त इस मूल मान्यता पर आधारित है कि राजनैतिक एवं आर्थिक कारकों के बीच एक गहन संबंध होता है। ये दोनों कारक परस्पर प्रभावित करते हैं तथा काफी हद तक आर्थिक कारकों के आधार पर राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलते हैं।

इस सिद्धान्त को परिभाषित करना अति कठिन है, क्योंकि अलग-अलग लेखकों ने विभिन्न प्रकार से इसकी व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश की है। मुख्य रूप से विभिन्न विद्वानों का मानना है कि – प्रथम, निर्भरता एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से परिधि वाले राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी प्रणाली में संगठित करने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय, इस प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रों के संरचनात्मक स्थिति में परिवर्तन से उनके समाजों में विकृतियां पैदा होती हैं।

इस सिद्धान्त को विश्लेषण की सुविधा हेतु दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

6.3.1 निर्भरता पर आधारित

बहुत से विद्वानों ने इस सिद्धान्त को 'केन्द्र' व 'परिधि' के राष्ट्रों के मध्य हुई आर्थिक व राजनैतिक अन्तःक्रियाओं के रूप में देखा है।

मूल रूप में उनकी सोच में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु किसी कारक विशेष को अधिक व कम महत्व की दृष्टि से उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है जिसका विवरण इस प्रकार से है –

6.3.1.1 संरचनात्मक स्कूल

इस वर्ग के अग्रणीय लेखक के रूप में राजूल प्रबीसिच, जो संयुक्त राष्ट्र के दक्षिणी अमेरिकी आर्थिक आयोग के अध्यक्ष रहे, का नाम लिया जा सकता है। इसके साथ-साथ फुरटाडो व शंकत को भी इसी वर्ग में शामिल माना जा सकता है।

इस विचार के समर्थन विद्वान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को केन्द्र व परिधि के राज्यों में बांटा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार उत्पादन के परम्परागत तरीकों से केन्द्र के राष्ट्रों के पास अत्याधिक सम्पदा इकट्ठी हो गई है। इसीलिए उन विद्वानों का मानना है कि विकास व गैर विकास या अविकसित को अलग नहीं किया जा सकता, बल्कि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसके अतिरिक्त, न ही आज आन्तरिक व बाह्य कारकों के बीच अन्तर रखा जा सकता है, बल्कि दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसीलिए लैटिन अमेरिकी देशों के आधारभूत औद्योगिक विकास के बाद ही उनको औपनिवेशिक व साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्ति मिल सकती है।

6.3.1.2 गैर विकास का विकास

इस मत से जुड़े लोगों में प्रमुख हैं एंड्रिगुंडर फ्रैंक, पाल बरान, समीन अमीन आदि। ये विद्वान विश्व व्यवस्था को "महानगरों" व "उपग्रहों" के रूप में विभाजित मानते हैं। फ्रैंक का मानना है कि पूंजीवाद के माध्यम से हमेशा 'उपग्रहों' वाले राज्यों में "गैर-विकास का विकास" होता है। महानगरों वाले राष्ट्र इन्हे अपने अतिरिक्त पूंजी के लाभांश से इन्हें और अविकसित बना देते हैं। उपग्रहों वाले राज्यों में अविकसितता का विकास एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही हिस्सा है, अपने आप में कोई स्वतन्त्र गतिविधि नहीं है। इसलिए जब-जब इन उपग्रह वाले राष्ट्रों का महानगरों वाले राष्ट्रों के कमजोर बन्धन रहा है इन्होंने अपनी विकास दर को बढ़ाया है तथा जब जब ये उनसे अधिक जुड़े रहे हैं यह प्रक्रिया विपरीत रही है। इसीलिए किसी राष्ट्र में पिछड़पन का विकास पूंजीवादी व्यवस्था में उस राज्य के पदसोपान के आधार पर अध्ययन की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, इसका उस समाज में स्थापित आर्थिक ढांचों के आधार पर भी मूल्यांकन किया जा सकता है। इस मत की भी दो आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं – प्रथम, पूंजी की उपलब्धता व पूंजीवाद दो अलग-अलग बिन्दु हैं सो उन्हें एक नहीं मानना चाहिए। द्वितीय, इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण रूप से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि विकास से किस प्रकार लैटिन अमेरिकी देशों में पिछड़ेपन का विकास हुआ।

6.3.1.3 निर्भरता-विकास स्कूल

तीसरा वर्ग उन विचारकों का है जो निर्भरता व विकास के संबंधों को जुड़ा मानते हैं। इनमें से प्रमुख विचारक हैं – कारडोसो, फालेटो व ओसवाल्डो शंकल। इनका मानना है कि ऐतिहासिक – संरचनात्मक दृष्टि से दक्षिणी अमेरिकी देशों में पूंजी निवेश के संदर्भ में मूलभूत परिवर्तन आये हैं। उनका मानना है कि पूंजी निवेश कृषि या कच्चा माल के उत्पाद की बजाय तैयारशुदा माल में लगाया गया है तथा इसके जुड़े संयुक्त उद्यमों में स्थानीय व बाह्य पूंजीनिवेशकों में सहयोग रहा है। इसीलिए निर्भरता, पूंजीवाद वर्चस्व व विकास विरोधाभाषपूर्ण न होकर तीसरी दुनिया के देशों में एक संग्रहित वर्चस्व स्थापित करने की स्थिति रही है। इसीलिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पाद को बढ़ा कर तीसरी दुनिया के देशों के शहरी आबादी की आवश्यकता की पूर्ति बाह्य बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा की गई है। इसीलिए इन समाजों की संरचनात्मक व्यवस्था में बिखराव पैदा कर दिया गया है। इसीलिए इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के देशों में निर्भरता से जुड़े विकास की स्थिति पैदा कर दी है।

यद्यपि इस वर्ग के विचारकों ने एक पूर्व निर्धारित व्याख्या से अलग हटकर नई व्याख्या दी है, परन्तु इससे वर्ग के सिद्धान्त को एक मूल ईकाई के रूप में उचित प्रयोग नहीं किया जा सका।

उपरोक्त तीनों वर्गों में विचारों में कहीं-कहीं भिन्नता भी देखने को मिलती है तथा परम्परागत मार्क्सवाद से भी कई संदर्भों में अलग है। परन्तु यह सत्य है कि इन सभी के अनुसार आर्थिक विकास की दृष्टि से 'परिधि' वाले राष्ट्र आज भी महानगरीय केन्द्रों पर निर्भर हैं। इसी कारण से शायद महानगरों में विकास का विकास तथा परिधि राष्ट्रों में अविकास का विकास हो रहा है।

6.3.2 विश्व प्रणाली सिद्धान्त

निर्भरता सिद्धान्त के ही अन्य रूप को विश्व-प्रणाली सिद्धान्त के अंतर्गत भी अध्ययन किया गया है। यद्यपि कुछ विचारक इन दोनों को अलग मानते हैं, परन्तु दोनों की मूल मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल व्याख्या को लेकर है। अतः इसे निर्भरता के ही एक रूप के अंतर्गत स्वीकारना ज्यादा उचित है।

विश्व प्रणाली सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता इमेनुअल वालरस्टेन को कहा जा सकता है जिन्होंने अपनी पुस्तक डॉ मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम में इसका विस्तृत उल्लेख किया है। वालरस्टेन का मानना है कि इतिहास में दो प्रकार की विश्व प्रणालियां पाई जाती हैं। 'विश्व साम्राज्य' व 'विश्व अर्थव्यवस्था'। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि संसाधनों के बंटवारे के बारे में किस प्रकार से निर्णय लिए जाते हैं। उनका मानना है कि 'विश्व साम्राज्य' व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग 'परिधि' राज्यों से 'केन्द्र' राज्यों की ओर संसाधनों का बंटवारा किया जाता है। इसके विपरीत विश्व अर्थव्यवस्था प्रणाली में एक केन्द्रीयकृत राजनीतिक ढांचे का अभाव होता है। अतः कानून के द्वारा संसाधन का बंटवारा किए जाने की बजाए बाजार के माध्यम से इसे सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार यद्यपि संसाधनों के बंटवारे के सम्बन्ध में दोनों के तरीके भिन्न हैं परन्तु दोनों का ही कुल परिणाम एक समान है। वह है परिधि वाले राष्ट्रों से केन्द्रीय राज्यों की ओर संसाधनों का हस्तांतरण हो रहा है।

वालरस्टेन के अनुसार केन्द्र राष्ट्रों की विशेषता है कि – प्रजातांत्रिक सरकारें; उच्च वेतन; कच्चे माल का आयात; तैयारशुदा माल का निर्यात; उच्च पूंजी निवेश; कल्याणकारी सेवाएं आदि। ठीक इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्रों की विशेषताएं हैं – गैर-प्रजातान्त्रिक सरकार पद्धति; कच्चे माल का निर्यात; तैयार माल की आयात; निम्न स्तरीय वेतन; कल्याणकारी सेवाओं का अभाव। परन्तु वालरस्टेन निर्भरतावादियों से थोड़ा भिन्न हैं। वे केन्द्र व परिधि के इलावा राष्ट्रों की एक तृतीय श्रेणी सम परिधि भी मानते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रों की विशेषताएं हैं – सत्तात्मक सरकारें; कच्चे व तैयार माल का निर्यात; तैयार माल व कच्चे माल का आयात; कम वेतनमान; निम्न स्तरीय कल्याणकारी सेवाएं आदि।

वालरस्टेन का भी मानना है कि ये तीनों श्रेणी के राष्ट्र आपस में उत्पादन के शोषणात्मक तरीकों से जुड़े हुए हैं जिसके माध्यम से सम्पदा का हस्तांतरण परिधि के केन्द्र वाले राज्यों की तरफ हो रहा है। इसका मानना है कि क्रमिक उतार-चढ़ाव, धर्मनिरपेक्ष पद्धति एवं विरोधाभासों के कारण विश्व प्रणाली में संकट आते हैं। इन्हीं संकटों के कारण नई विश्व व्यवस्था का जन्म होता है।

वालरस्टेन के विश्व प्रणाली सिद्धान्त की मार्क्सवादियों एवं गैर-मार्क्सवादियों दोनों ही ने आलोचनाएं की हैं। कुछ लेखकों जैसे चेज व पून का मानना है कि वालरस्टेन ने इसे केवल आर्थिक कारकों तक ही सीमित कर दिया, जबकि अन्य कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। द्वितीय, फ्रैंक व गिल का मानना है कि वालरस्टेन ने इस सारे प्रकरण को यूरोप केन्द्रित बना कर रख दिया जिसके उत्पत्ति मध्ययुगीन यूरोप से मानी जाती है। परन्तु यदि गहन अध्ययन किया जाए तो वर्तमान विश्व प्रणाली की जड़े मध्ययुगीन यूरोप से कहीं अधिक मजबूत हैं।

6.4 प्रमुख विशेषताएं

उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि निर्भरता के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं –

- (i) सर्वप्रथम अधिकतर विद्वानों का मानना है कि वर्तमान संदर्भ में राज्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण पूंजीवाद का विकास है। इसी पूंजी के विकास के कारण अंतर्राष्ट्रीय अन्तः क्रियाओं का आरम्भ माना जा सकता है। राज्यों के बीच संसाधनों को लेकर संघर्ष तथा केन्द्र वाले राज्यों का परिधि वाले राज्यों के साथ शोषण युक्त संबंधों का मूल कारण पूंजीवाद का विकास ही माना जा सकता है।
- (ii) अधिकतर विद्वानों का मत है पूंजी व उत्पादन के संबंधों की दृष्टि से विश्व दो भागों या तीन (वालरस्टेन) भागों में बंटा हुआ है। ये तीनों भाग हैं – केन्द्र, परिधि व सम-परिधि वाले राष्ट्र। इन राष्ट्रों को मूल रूप में देखें तो विकसित या पिछड़े राष्ट्रों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वालरस्टेन के सम-परिधि वाले राष्ट्रों को दोनों का मिश्रण या विकासोन्मुख राष्ट्र कहा जा सकता है।
- (iii) यदि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों की तुलना करें तो दोनों की गतिविधियां एक दूसरे के विरोधी पाई जाती हैं। केन्द्र वाले राज्य मुख्य रूप से विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं अतः मूलतः प्रजातान्त्रिक पद्धति के साथ-साथ जनसाधारण का निर्यात होता है। यहां कल्याणकारी सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्र मुख्यतः विकासशील या पिछड़े राज्यों की श्रेणी में आते हैं। यहाँ पर ज्यादातर देशों में सरकारें निरंकुश व तानाशाही पर आधारित होती हैं। ये मुख्यतः अपना कच्चा माल निर्यात कर विकसित राष्ट्रों से तैयार माल आयात करते हैं। इनके यहाँ सार्वजनिक व कल्याणकारी सेवाओं का अभाव भी मिलता है। इस प्रकार दोनों की स्थित एक-दूसरे के विपरीत पाई जाती है।
- (iv) दोनों वर्गों के देशों में अतिरिक्त मूल्य की उपलब्धता में भी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। जहां तक केन्द्र वाले राज्य हैं वहां तकनीकी व औद्योगिक विकास होने के कारण उत्पादकता अधिक होती है। इसके साथ-साथ लागत कम होने से अतिरिक्त मूल्य काफी मात्रा में पाया जाता है। दूसरी ओर विकासशील देश औद्योगिक व तकनीकी दोनों की दृष्टियों से पिछड़े होने के कारण अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने में सक्षम नहीं होते। अतः विकसित राष्ट्र ही बाह्य देशों में पूंजीनिवेश या वर्चस्व बनाने की सोच सकते हैं, विकासशील राष्ट्रों का तो मात्र शोषण ही होता है।
- (v) इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि ज्यादातर विकासशील देश राजनैतिक रूप से तो स्वतन्त्र हैं लेकिन आर्थिकरूप से अभी भी वे अपने केन्द्रो (औपनिवेशिक ताकतों) से जुड़े हुए हैं। इस कारण से वे राष्ट्र

सैद्धान्तिक रूप से तो आजाद है, परन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं है। अपनी आर्थिक निर्भरता के कारण वे अभी भी 'केन्द्र' सम्बन्धित राष्ट्रों की ओर ही देखते हैं।

- (vi) यदि केन्द्र व परिधि वाले राज्यों के आर्थिक उत्पादन की दिशा देखें तब दोनों प्रकार के राष्ट्रों की स्थिति बड़ी ही विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती है। जहां तक केन्द्र वाले राज्यों का प्रश्न है वहां पर एड्री गुंडर फ्रैंक की भाषा में "विकास का और विकास" हो रहा है। जबकि परिधि वाले राष्ट्रों की स्थिति बिल्कुल ठीक इसके विपरीत है। इन देशों में "अविकास या पिछड़ेपन का और विकास" हो रहा है। अर्थात् जहां पर केन्द्र वाले राज्य उन्नति की ओर अत्यधिक अग्रसर हैं, वहीं परिधि वाले राष्ट्र अवनति या पतन की ओर अधिक अग्रसर हैं।
- (vii) इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य शोषण का रिश्ता होता है (केन्द्र वाले राज्य अलग-अलग तरीकों के माध्यम से परिधि वाले राज्यों के संसाधनों का हस्तांतरण कर अपना विकास करते रहते हैं। यह संबंध ऐतिहासिक काल में ही नहीं, अपितु वर्तमान समय में भी बदले हुए रूप में जारी है। वर्तमान समय में ये राष्ट्र बहुराष्ट्रीय या राष्ट्रोपरि कम्पनियों के माध्यम से इनके संसाधनों का निरंतर हस्तांतरण अपने पक्ष में करते रहते हैं। इन राष्ट्रों की राजनैतिक आजादी के बाद आज तक इस प्रकार का शोषण बदले हुए स्वरूप में जारी है।
- (viii) केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य नवीन आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्यों की स्थिति व स्वरूप बदल गए हैं। नवीन शक्ति समीकरण बन गये हैं जिसके अंतर्गत केन्द्र के राज्य अत्याधिक पूंजी के विकास के कारण शक्तिशाली राष्ट्र बन गए हैं। परन्तु परिधि के राष्ट्रों के पास साधनों का अभाव है इसीलिए मात्र छोटे राज्यों की श्रेणी में आ गए हैं दोनों राष्ट्रों के बीच राजनैतिक व आर्थिक विभिन्नता के साथ-साथ शक्तिशाली व कमजोर राष्ट्रों का बंधन स्थापित हो गया है।
- (ix) इन बदली हुई परिस्थितियों के कारण अब विश्व व्यवस्था का शक्ति संतुलन भी केन्द्र वाले राष्ट्रों के हाथ में आ गया है। वे राष्ट्र अब अपनी शक्ति के विस्तार व प्रदर्शन हेतु मूलतः दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण करते हैं। प्रथम, ये राष्ट्र परस्पर शक्ति संतुलन का सिद्धान्त लागू करते हैं। इसके माध्यम से ये सतत रूप से शक्ति के बढ़ाने व संतुलन बनाने में लगे रहते हैं। द्वितीय, आपसी संतुलन के बावजूद इन शक्तिशाली राष्ट्रों का अन्तिम उद्देश्य अपना वर्चस्व या सर्वाधिकार स्थापित करना रहता है। इन्हीं दोनों नीतियों के कारण वे शक्तिशाली होकर भी हमेशा यथास्थिति बनाए रखने में संघर्षरत रहते हैं।
- (x) इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों के संबंध मात्र राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति तक ही सीमित नहीं हैं। केन्द्र वाले राज्यों द्वारा परिधि के राष्ट्रों का शोषण करने की प्रक्रिया में मजदूरों का सम्मिलित होना भी अनिवार्य हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के मध्य रंगभेद की विचारधारा का जन्म भी हो गया है। जातीय या चमड़ी के रंग को लेकर भी अब विकसित देश अपने को श्रेष्ठ एवं विकासशील राष्ट्रों को हेय मानने लगे हैं। अतः राजनैतिक व आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी इन राष्ट्रों के बीच की खाई और गहरा गई है।

6.5 आलोचनाएं

निर्भरता के सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं—

- (i) सभी विद्वानों इस सिद्धान्त के अंतर्गत केन्द्र व परिधि को एक संगठित स्वरूप प्रदान करते हैं। परन्तु इस प्रकार की मान्यता बिल्कुल गलत है। दोनों श्रेणियों के राष्ट्रों में कितनी भी समानता हो फिर भी पूर्णरूप से सभी राष्ट्रों के मध्य एकरूपता मानकर चलना गलत है। केन्द्र वाले राष्ट्रों एवं परिधि वाले राष्ट्रों में आपसी

मतभेद भी व्याप्त है। इन समूहों के आन्तरिक विवादों/मतभेदों को नकारना व्यर्थ है। अतः इस मोटे रूप में विभाजन से इन समूहों के आपसी मतभेदों/समस्याओं का विश्लेषण नहीं हो पाता।

- (ii) इस सिद्धान्त की एक सबसे महत्वपूर्ण कमी इसके पूर्व निर्धारित स्वरूप की है। इसमें पूंजीवाद को ही एकमात्र राष्ट्रों के शोषण का कारण माना है। अतः सिद्धान्त की सारी प्रक्रिया को मात्र एक तत्व में समेट कर रख दिया है। यह सत्य है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य आर्थिक संबंध एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि सिर्फ यही एक मात्र कारण नहीं है। अन्य कारक भी काफी हद तक इन राष्ट्रों के स्वरूप में परिवर्तन हेतु उत्तरदायी हैं।
- (iii) इस सिद्धान्त के आधार पर विश्व प्रणाली की पद सोपान के बारे में तो बताया गया है, परन्तु इसमें परिवर्तन या बदलाव हेतु कुछ नहीं कहा गया। इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि राष्ट्र हमेशा इन दो श्रेणियों में ही बंटे रहेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों को इसी स्वरूप में अनन्त मान लिया गया है तथा यह मानकर चला गया है कि यह निरन्तरता जारी रहेगी। परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल भिन्न है। विश्व परिवर्तनशील व गतिमान है। अतः इस सिद्धान्त को विश्व प्रणाली में बदलाव के तरीकों एवं इसके परिवर्तित स्वरूप की स्थिति के बारे में कुछ आंकलन अवश्य करना चाहिए था।
- (iv) इस सिद्धान्त के आधार पर माना गया है कि परिधि वाले विकासशील देशों को पूंजीवाद का लाभांश नहीं मिला तथा वे विकास प्रक्रिया से वंचित रहे हैं। परन्तु ऐसी सम्पूर्ण तीसरी दुनिया के देशों में नहीं हुआ। पूर्व एशिया व दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में पूंजीवाद से अत्यन्त लाभ कमाया है। तथा 1997 से पूर्व दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों को पूंजीगत विकास में एशियाई टाईगर माना जाता रहा है। इसी प्रकार कुछ अन्य तीसरी दुनिया के देश भी मध्य दर्जे की अर्थव्यवस्था व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आये हैं।
- (v) कुछ आलोचकों का मानना है कि निर्भरता के सिद्धान्त ने विकासशील देशों की व्यवस्थाओं को समझने के बहुत कम प्रयास किए हैं। उन्होंने उनके पिछड़ेपन के कारण का विश्लेषण करने से ज्यादा कम विकसित देशों को एक विचारधारा प्रदान करने की कोशिश की है। इस दृष्टिकोण का मुख्य केन्द्र विकसित राष्ट्र, उनसे सम्बद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं राष्ट्रोपरि कम्पनियों की आलोचना रहा है। परन्तु वास्तव में इन कारकों के साथ विकासशील देशों की आन्तरिक कमजोरियों, वहां के नेतृत्व द्वारा की गई फिजूलखर्ची, योजनाओं का गलत प्रारूप एवं लागू करना आदि भी उनकी वर्तमान स्थिति हेतु समान भागीदार रहे हैं।
- (vi) इस दृष्टिकोण पर यह भी आरोप लगाया है कि इसके माध्यम से समस्याओं का अत्याधिक सरलीकरण कर दिया गया है। सैद्धान्तिक रूप से अति आधुनिकतम पद्धतियों व तरीकों की खोज करने की बजाए मोटे तौर पर वृहत निष्कर्ष निकाल कर सैद्धान्तिक बारीकियों की खोज का मार्ग अवरुद्ध किया है। व्यावहारिक स्तर पर समस्याओं की गम्भीरता, गहन विश्लेषण व क्रमबद्ध अध्ययन का स्थान सरलीकरण ने ले लिया है। अतः कई आलोचक इस सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक योगदान को विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के समाधान हेतु महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं।

6.6 उपयोगिता

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त की उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता जो निम्नलिखित हैं—

- (i) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों के उदय से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आधार भूत परिवर्तन आए। उन्हीं परिवर्तनों का आंकलन करने हेतु कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन

भी हुआ जिनमें से मुख्य रहे—यथार्थवाद, अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली, खेल, सौदेबाजी, संचार आदि। परन्तु इन सभी सिद्धान्तों ने विश्व व्यवस्था में यथास्थिति का अध्ययन मात्र किया है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों की उत्पत्ति पाश्चात्य विद्वानों के पूर्व निर्धारित मनः स्थिति का प्रतीक भी रही। परन्तु यह पहला सिद्धान्त था जो यथास्थिति की बजाए बदलाव की बात करने लगा। इसके अतिरिक्त, इसके माध्यम से विकासशील राष्ट्रों के शोषण की समस्या पर गहन मंथन किया गया। परिधि वाले राष्ट्रों, को केन्द्र बिन्दु मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

- (ii) इस सिद्धान्त से पूर्व सभी सिद्धान्त राजनैतिक ढांचों के अध्ययन पर बल देने वाले रहे हैं। इस सिद्धान्त के माध्यम से पहली बार आर्थिक कारकों के महत्व को केन्द्र बिन्दु माना है। आर्थिक तत्व को महत्वपूर्ण मानने के साथ-साथ इसने राजनैतिक व आर्थिक कारकों के सम्बन्धों एवं उनके प्रभावों का गहन विश्लेषण किया है। पहली बार इस सिद्धान्त के माध्यम से सतही कारणों की बजाए परिधि राष्ट्रों के पिछड़ेपन की समस्या का गहन अध्ययन करने का प्रयास किया। इस सिद्धान्त के माध्यम से विभिन्न श्रेणी के राष्ट्रों के बीच ऐतिहासिक संबंध एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उत्पादन नव-उपनिवेशवाद की समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया। अतः यह सिद्धान्त इन नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थिति की सत्यता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

6.7 सारांश

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निर्भरता के सिद्धान्त के माध्यम से केन्द्र (विकसित) एवं परिधि (विकासशील) राष्ट्रों के संबंधों के माध्यम से विश्व व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप को अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त के माध्यम से वर्तमान व ऐतिहासिक संदर्भों में समन्वय पैदा करने के साथ-साथ पूंजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रों के संबंधों को समझने के उचित प्रयास किये गये हैं। यद्यपि विभिन्न विद्वानों के विचारों में भिन्नता अवश्य है, परन्तु आर्थिक कारक या पूंजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में महत्व प्रदान करने पर मुख्य तौर पर आम सहमति नजर आती है। लेकिन इस सिद्धान्त के वृहत स्वरूप व व्यष्टिपूर्वक अध्ययन से इस सिद्धान्त में कई सैद्धान्तिक व व्यावहारिक कमियां स्पष्ट झलकती हैं। परन्तु आवश्यकता इस सिद्धान्त को त्यागने की न होकर इसे और बारीकियों के साथ तराशने की है। केन्द्र व परिधि राष्ट्रों के बीच उत्पन्न वर्चस्व स्थापित करने व विकास अवरूद्ध होने की समस्याओं के गहन अध्ययनों से नए सामान्यीकरणों के स्थापित करने की अति शीघ्र आवश्यकता है।

6.8 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्भरता के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. वालरस्टेन के विश्व व्यवस्था सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. निर्भरता के सिद्धान्त की विशेषताएं बतलाते हुए, उसके गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सही रूप में समझने हेतु निर्भरता का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है। टिप्पणी करें।

6.9 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंस (कलकत्ता, 1972)

3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय-7

संघर्ष समाधान

अध्याय का ढांचा

7.1 प्रस्तावना

7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

7.2 संघर्षों के प्रकार

7.2.1 संतुलित उद्देश्यों हेतु संघर्ष

7.2.2 वर्चस्व स्थापना के उद्देश्यों हेतु संघर्ष

7.3 समाधान के तरीके

7.3.1 शान्तिपूर्ण तरीके

7.3.1.1 राजनयिक व राजनैतिक तरीके

7.3.1.1.1 वार्ताएँ

7.3.1.1.2 सत्सेवा

7.3.1.1.3 मध्यस्थता

7.3.1.1.4 जांच आयोग

7.3.1.1.5 संराधन

7.3.1.2 न्यायिक तरीके

7.3.1.2.1 पंचनिर्णय

7.3.1.2.2 न्यायिक अभिनिर्णय

7.3.2 दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीके

7.3.2.1 संबंध विच्छेद

7.3.2.2 अधिरोध

7.3.2.3 प्रत्यपहार

7.3.2.4 प्रतिकर्म

7.3.3 युद्ध के द्वारा

7.3.3.1 सीमित युद्ध

7.3.3.2 सम्पूर्ण युद्ध

7.4 सारांश

7.5 प्रश्नावली

7.6 पाठन सामग्री

7.1 प्रस्तावना

यथार्थवादियों का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य शक्ति हेतु संघर्ष है। अन्य विद्वानों का भी मत है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राज्यों के अंतर्गत होने वाली प्रक्रियाओं का रूप होती है। परन्तु सभी राज्यों के राष्ट्रीय हित समान नहीं होते अतः राज्यों के मध्य संघर्ष अनिवार्य बन जाता है। संघर्षों का स्वरूप, विषय क्षेत्र व क्षमता विभिन्न हो सकती है। शायद इसी कारण संघर्षों के समाधान के बारे में जानने से पूर्व संघर्षों के स्वरूप व प्रकार के बारे में संक्षिप्त जानकारी भी अति आवश्यक हो जाती है।

7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के बीच संघर्ष एवं सहयोग दोनों पाये जाते हैं। इस अध्याय में मुख्य रूप में राज्यों के बीच होने वाले संघर्षों के प्रकार एवं उनके समाधान के तरीकों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है। इस अध्याय में शान्तिपूर्ण तरीको, दण्डात्मक कार्यवाही एवं युद्ध के माध्यम से संघर्षों के निदान के बारे में स्पष्ट रूप से बताया गया है। इसके साथ-साथ सभी तरीको की उपयोगिता एवं प्रासांगिकता का ज्ञान भी निहित है।

7.2 संघर्ष के प्रकार

सामान्य रूप से संघर्षों को दो भागों में ही बांटा जा सकता है – अहिंसात्मक व हिंसात्मक। देखने से यह प्रतीत होता है कि इस वर्गीकरण के आधार पर संघर्षों के स्वरूप को समझना बहुत आसान है। परन्तु आज के वर्तमान सन्दर्भ में सैन्य साधनों के अति आधुनिकतम शस्त्रों की उत्पत्ति के कारण यह पता लगाना इतना सरल नहीं है कि अमुक संघर्ष हिंसात्मक है या अहिंसात्मक। कई बार हिंसात्मक प्रवृत्तियों का दिखाना मात्र करके राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति कर लेते हैं। अतः संघर्ष के बारे में जानकारी हेतु उनके हितों का विस्तृत ज्ञान अनिवार्य बन जाता है। इसीलिए कई लेखक विश्लेषणात्मक दृष्टि से संघर्षों को निम्नलिखित दो प्रमुख श्रेणियों में बांट देते हैं –

7.2.1 संतुलित उद्देश्यों हेतु संघर्ष

(i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलाव के दौर की स्थिति में शक्ति विभाजित रहती है तथा अस्थिरता बनी रहती है। ऐसे में राज्यों के पास केवल सीमित विकल्प ही रह जाते हैं। अतः आपकी संघर्षों की स्थिति में केवल संतुलन के उद्देश्य प्राप्त हेतु ही प्रयास करता है। उन संघर्षों को संतुलित-उद्देश्यों हेतु संघर्ष कहते हैं। इस श्रेणी में निम्न प्रकार के संघर्षों को सम्मिलित किया जा सकता है।

(क) विस्तारवादी नीतियां

(ख) परिवर्तनशीलता बनाम यथास्थिति

(ग) राष्ट्रवाद हेतु संघर्ष

(घ) ऐतिहासिक अनुभवों पर आधारित संघर्ष

(ड.) जातिवादी संघर्ष

(च) धार्मिकता हेतु संघर्ष

(छ) सामाजिक व सांस्कृतिक संघर्ष

7.2.2 वर्चस्व स्थापना के उद्देश्यों हेतु संघर्ष

शीतकालीन युग में संघर्ष पूर्व सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य संघर्षात्मक द्वंद्व का पर्यायवाची बन गया था। दोनों के बीच संघर्ष शस्त्रों की होड़, सैन्य क्षमता का विकास, सैन्य अड्डों की स्थापना, कच्चे माल पर नियंत्रण, सहयोगियों की निरन्तर तलाश आदि पर आधारित बन गया था। इसके परिणामस्वरूप दोनों ही मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे पर वर्चस्व स्थापित करने की होड़ में लगे रहते थे। इस प्रकार के संघर्ष में राज्य अपनी शक्ति विस्तार के साथ-साथ समूह को संगठित करने तथा उसे और प्रतियोगिक बनाने की होड़ में लीन हो गया। इस प्रकार से विश्व पूर्ण रूप से वैचारिक रूप में दो गुटों में बंट गया। इस प्रकार के संघर्ष को वर्चस्व स्थापना हेतु संघर्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार के संघर्ष हेतु लम्बी दूरी की योजनाएं बनानी पड़ती हैं तथा यह निरन्तर चलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों, के बीच इस स्थिति में सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावनाएं भी अत्यधिक रूप से व्याप्त रहती हैं।

संघर्षों को प्रारम्भ करना तो आसान होता है, लेकिन उनको लम्बे समय तक जारी रखना अति कठिन होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्र संघर्षों से बचना चाहते हैं। परन्तु एक बार संघर्ष प्रारंभ होने पर चार विकल्पों के माध्यम से ही उनसे बचा जा सकता है। (क) प्रथम, यदि राष्ट्र अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है; (ख) द्वितीय, वार्ता के माध्यम से ऐसे समझौते पर पहुंच जाते हैं जो चाहे पूर्ण संतुष्टि तो नहीं परन्तु आवश्यक संतुष्टि अवश्य प्रदान करें; (ग) तृतीय, अनिर्णायक स्थिति में किसी संघर्ष को छोड़ देना; तथा (घ) पूर्ण हार की स्थिति में। पहली व चौथी स्थिति से तो यह स्पष्ट हो या लागत। हानि का अंकलन कर लिया हो। दूसरी स्थिति अति उत्तम होती है परन्तु यह तभी संभव है जब दोनों प्रतिद्वंद्वी समझौता करना चाहते हों तथा अपनी न्यूनतम उपलब्धि के संदर्भ में समान विचार रखते हों। अनिर्णयातक स्थिति जब आती है जब दोनों प्रतिभागी अड़ियल हो व लाभ-हानि अनिश्चित हो। इस प्रकार के संघर्ष बिना किसी दिखावे के टूट जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में संघर्ष की स्थिति राज्यों द्वारा उनके समाधान के विभिन्न साधनों व तकनीकों के खोजने पर बल देती है। परन्तु इन साधनों की खोज व उनकी सफलता संघर्ष के उद्देश्यों, स्वरूप एवं विरोधी पार्टियों के हितों पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त, यह भी सत्य है कि सभी संघर्षों के समाधान हेतु विभिन्न तरीकों की आवश्यकता नहीं होती, अपितु कई बार संघर्ष केवल अपने आप पर छोड़ देने पर भी सुलझ जाते हैं। लेकिन कई बार भावनात्मक स्वरूप अति तीव्र रूप धारण कर लेता है तब विवादों का औपचारिक हल ढूंढना आवश्यक हो जाता है। कई बार उन विवादों का हल भी आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता जिनके साथ राज्य अपने आत्म-सम्मान को जोड़ लेते हैं।

7.3 समाधान के तरीके

7.3.1 शांतिपूर्ण तरीके

शांतिपूर्ण तरीकों के अंतर्गत हिंसा को त्याग कर विभिन्न पद्धतियों के माध्यम से समस्याओं का समाधान सम्भव है। सामान्य रूप से शांतिपूर्ण तरीकों को भी आगे दो भागों में बांटा जा सकता है—

7.3.1.1 राजनयिक व राजनैतिक तरीके

राजनयिक व राजनैतिक निर्णय अन्तिम नहीं होते हैं इसीलिए इन्हें कई बार अनिर्णय व लागू नहीं होने वाले भी कहा जाता है। इनके अंतर्गत समाधान मुख्यतः अहम समझौतों तथा परस्पर सहमति पर अधिक आधारित होते हैं राजनैतिक निर्णय पर्यावरण सम्बन्धित कारकों व मूल्यों पर भी काफी हद तक निर्भर करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये

राजनैतिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होते हैं। इस पद्धति से विवादों को निम्न रूप से सुलझाया जा सकता है।

7.3.1.1.1 वार्ताएं

राज्यों के बीच वाताओं के माध्यम से सबसे सरल तरीके से विवादों का शान्तिपूर्ण हल सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की वार्ताएं द्वि-पक्षीय या बहुपक्षीय दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। इस प्रकार की वार्ताएं राज्याध्यक्षों के मध्य वर्तमान समय व्यक्तिपरक राज्य अथवा सम्मेलनों के राजनय के माध्यम से भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त, ये वार्ताएं इस उद्देश्य हेतु नियुक्त राजनयिकों अथवा किसी विशेष दूत के माध्यम से भी हो सकती है। कई बार राज्यों के बीच विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलनों के समय भी वार्ताएं करना सम्भव है। अतः यह मध्य तरीका स्पष्ट एवं अति सरल है। परन्तु यह पद्धति उसी परिस्थिति में सम्भव हो सकती है जहां पर राज्यों के मध्य न्यूनतम स्तर की विश्वसनीयता बनी हुई हो। यदि राज्यों के मध्य आपसी विश्वास नहीं होगा तो इस कार्यवाही को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसी स्थिति में पहले राज्यों के मध्य विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों को उठाना पड़ता है तब वार्ताओं के प्रारम्भ होने की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है।

7.3.1.1.2 सत्सेवा

इस माध्यम से सह-राजनयिक रूप से तीसरे प्रतिभागी के हस्तक्षेप से समस्याओं को सुलझाना होता है। यह तीसरा प्रतिभागी कोई प्रमुख व्यक्ति, मित्र राज्य अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। जब भी दोनों संघर्षरत राज्यों के बीच गतिरोध पैदा हो जाता है उस स्थिति में इसका अकसर प्रयोग किया जाता रहता है। इस अवसर पर गतिरोध दूर करने हेतु तीसरा राज्य अपनी सेवाएं प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस प्रकार की बातचीत तीसरे के सहयोग से प्रारम्भ होती है, तथापि तीसरा प्रतिभागी न तो कोई सुझाव प्रस्तुत करता तथा न ही उनकी सीधी वार्ताओं में भाग लेता है। यदि एक बार सत्सेवा को स्वीकार कर लिया जाता है तो अकसर वह मध्यस्थ के रूप में भी बदल जाता है। इस प्रकार से कई महत्वपूर्ण संघर्षों का हल इस माध्यम द्वारा संभव हुआ है। उदाहरणस्वरूप, 1966 का भारत-पाक के मध्य ताशकन्द समझौता भूतपूर्व सोवियत संघ की सत्सेवा का परिणाम था।

7.3.1.1.3 मध्यस्थता

यह सत्सेवा का ही विस्तृत रूप है। इसके अंतर्गत कोई तृतीय प्रतिभागी हस्तक्षेप करके संघर्ष के समाधान हेतु कार्य करता है। यह कार्य कोई प्रमुख व्यक्तित्व, संस्थान अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। परन्तु यह सत्सेवा से इसलिए भिन्न है कि यहां यह तीसरा व्यक्ति या संस्थान सत्सेवा की भांति तटस्थ न रहकर सक्रिय भूमिका निभाता है। यह दोनों राष्ट्रों की समस्या के समाधान हेतु सुझाव भी देता है। यह दोनों विरोधियों के मध्य सद्भावना पैदा कर उनमें समन्वय पैदा करके समस्या के हल हेतु प्रयास करता है। यद्यपि मध्यस्थ अपने हलों को जबरदस्ती से उन पर थोपना नहीं है, तथापि यह मजबूत पहल के माध्यम से उन्हें उचित समाधान सुझाता है। उदाहरण स्वरूप डॉ. रात्फ बंचे ने 1948 में अरब-इजराइल संघर्ष के समय संयुक्त राष्ट्र के मध्यस्थ के रूप में सकारात्मक भूमिका निभाई।

7.3.1.1.4 जांच आयोग

कई बार जांच आयोग की स्थापना के माध्यम से भी विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की कोशिश की जाती है। अकसर इस प्रकार के आयोग में विवादस्पद दोनों दलों से बराबर-बराबर सदस्यों को शामिल करके तीसरे राज्य/राज्यों से एक या अधिक सदस्यों को शामिल करके समाधान करने के प्रयास किए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 33 में भी यह प्रावधान है कि स्थिति उत्पन्न होने पर संयुक्त राष्ट्र को इस प्रकार के गठन का अधिकार है।

जांच आयोग मुख्य रूप से घटना से जुड़े मुद्दों का वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्रस्तुत करके तथ्यों को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। यह प्रक्रिया मुख्य रूप से दो मूल मान्यताओं पर आधारित है— प्रथम, राष्ट्रों के मध्य विवाद की मुख्य जड़ कुछ तथ्यों पर दोनों प्रतिभागियों की सहमति का न होना होता है। द्वितीय, इस कमी को भावनात्मक तुल्य मिलने के कारण दोनों दल सिद्धान्त पर एकमत नहीं होते। उदाहरण के रूप में 1905 में इंग्लैंड रूस के बीच रूस द्वारा उत्तरी समुद्र में अंग्रेजी मछुवारों पर गोलियां चलाने का विवाद जांच आयोग की रिपोर्ट आने पर तुरन्त सुलझ गया।

7.3.1.1.5 संराधन

इस प्रक्रिया के अंतर्गत जांच व मध्यस्थ की प्रणालियों का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। यह भूमिका किसी व्यक्ति या आयोग द्वारा पूर्ण की जाती है। अतः इसका मुख्य कार्य तथ्यों को निर्धारित करना तथा औपचारिक रूप से विवाद के समाधान हेतु अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है। यह प्रक्रिया अपने आप में उचित इसलिए होती है क्योंकि जांच आयोग विवाद को हल करने में केवल नाममात्र भूमिका निभाते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से विवादों को सुलझाने के शांतिपूर्ण मध्यस्थ एवं जांच का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। यह राजनयिक व राजनैतिक तरीकों में शांति स्थापित करने का सबसे औपचारिक तरीका है। यह विशेषकर गम्भीर विवादों के संदर्भ में अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तरीका न्यायिक व विधानीय प्रक्रिया से अधिक लचीला होता है। इसका उद्देश्य हमेशा समझौते के आधार पर शान्ति स्थापित करना है, न कि कानून द्वारा न्याय स्थापित करना। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1945 के बाद ऐसे कई आयोगों का गठन किया है।

लेकिन यहां इतना स्पष्ट कर देना भी अति आवश्यक है कि इस तरीके द्वारा भी संघर्ष का समाधान तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक वह दोनों विवादग्रस्त दलों को स्वीकार्य न हो। आमतौर पर दोनों दलों की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु इस माध्यम से जो सुझाव दिए जाते हैं उसके माध्यम से यह स्पष्ट करने की कोशिश की जाती है कि अमुक सुझाव को मानने से प्रत्येक प्रतिभागी को अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपरोक्त राजनयिक व राजनैतिक तरीकों के माध्यम से संघर्षों को शांतिपूर्ण रूप से हल करने के प्रयास किए जाते हैं।

7.3.1.2 न्यायिक तरीके

कानून तरीकों के माध्यम से विवादों को विभिन्न प्रक्रिया व शर्तों के आधार पर हल करने के प्रयास पर बल दिया जाता है। यहाँ पर निर्णय केवल कानूनी पहलुओं के तहत किए जाते हैं, अतः राजनैतिक समझौतों का इसमें कोई स्थान नहीं होता। इसमें अधिकरणों एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय संघर्षरत प्रतिभागियों को मान्य होंगे, इसीलिए इन्हें बाध्यकारी कहा जाता है। इस प्रकार के निर्णय किसी तदर्थ अधिकारणों अथवा स्थाई न्यायालय द्वारा दिए जाते हैं। स्थाई न्यायालय में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है। परन्तु यह भी सत्य है कि सामान्यतया कुछ विशेष संदर्भों को छोड़कर न्यायपालिका में इन संघर्षों को ले जाना राष्ट्रों की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।

न्यायिक निर्णयों से हल किए गए विवादों राजनयिक आधार पर सामान्य विवादों के कई सन्दर्भ में अधिक लाभदायक होते हैं। सर्वप्रथम, इन तरीकों से सम्पूर्ण विवाद को न्यायालय अपने हाथ में ले लेती है। तथा इस प्रकार समग्र विवाद प्रतिभागियों के हाथों से दूर होने के कारण उनकी अपनी प्रतिष्ठा से प्रश्न से जुड़े नहीं रह जाते। अतः समाधान में कोई रूकावटें नहीं आती। द्वितीय, इनके द्वारा समाधान दोनों प्रतिभागियों या अन्य राष्ट्रों द्वारा स्थापित मानकों के आधार पर किया जायेगा। तृतीय, राजनयिक तरीकों की तुलना में इस पद्धति से समाधान अत्याधिक राजनीति से तटस्थ होगा, क्योंकि इसके अंतर्गत दोनों प्रतिभागी किसी भी प्रकार की निर्णय लेने की प्रक्रिया से

स्वेच्छा से पहले ही अलग हो चुके होते हैं।

जहां एक ओर न्यायिक निर्णय पद्धति के लाभ हैं, वहीं इसके नुकसान भी हैं। प्रथम, बहुत कम ऐसे राजनैतिक विवाद हुए हैं जिनका हल न्यायिक तरीकों से सम्भव हो सका है। द्वितीय, जितना भी कोई संघर्ष किसी भी राष्ट्र के लिए अधिक महत्वपूर्ण होगा उतना ही वह राष्ट्र चाहेगा कि इस विवाद को वह किसी तीसरे पक्ष के हाथ में न जाने दे।

उपरोक्त लाभ व हानियों के बावजूद भी निम्न तरीकों से न्यायिक आधार पर विवादों का समाधान सम्भव है –

7.3.1.2.1 पंचनिर्णय

पंच निर्णय की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसका अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णयों द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होना चाहिए जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न हों। इसका कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण का व्यक्ति हो। दो या अधिक राज्य भी पंच निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पंच फैसलों हेतु सौंपे जा सकें।

इस संदर्भ में 1899 में प्रथम हेग सम्मेलन के समय पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय की स्थापना की गई। तभी से लेकर यह न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय पंच निर्णय का प्रमुख यंत्र बन गया। सामान्य रूप से इस न्यायालय में जाना राष्ट्रों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। परन्तु एक बार अपने विवादों को इन्हें सौंपने के बाद पंचनिर्णय उन राष्ट्रों पर बाध्यकारी होगा। सामान्यतया पंच निर्णय हेतु राष्ट्र दो-दो न्यायाधीश अपनी मर्जी से चुनते हैं तथा बाद में ये चारों न्यायाधीश पांचवे न्यायाधीश (एम्पायर) का चयन खुद करते हैं। इन न्यायालयों द्वारा सामान्यतया निर्णय ऐसे प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर दिए जाते हैं जिन्हें विवादित राज्यों ने मान्यता प्रदान कर रखी हो।

7.3.1.2.2 न्यायिक अभिनिर्णय

न्यायिक अभिनिर्णय मूलतः संयुक्त राष्ट्र के अधीन अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (आई.सी.जे.) द्वारा दिये गए निर्णयों के माध्यम से विवादों को हल करने से हैं। यह न्यायालय 1945 में लीग के समय स्थापित पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय का परिवर्तित रूप है। इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय समुचित प्रकार से गठित कानून के आधार पर लिए जाते हैं तथा वे निर्णय समानता व न्याय के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य स्वतः ही अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य भी होते हैं। परन्तु व्यवहारिक रूप में सदस्यों को बाध्यकारी रूप से अपने विवादों को न्यायालय के समक्ष ले जाना आवश्यक नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यह भी व्यवस्था है कि गैर-सदस्य भी महासभा व सुरक्षा परिषद द्वारा लगाई गई शर्तों के अनुरूप अपने विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जा सकते हैं।

कई सदस्य जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुविधा को मानते हैं उन पर बिना किसी अलग समझौते के निम्नलिखित मामलों में अनिवार्य रूप से सभी कानूनी विवादों पर निर्णय मानना होगा – (i) संधि की व्याख्या के संदर्भ में, (ii) अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न के मामले में, (iii) किसी तथ्य के स्थापित होने से जिससे अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होता हो, तथा (iv) कानून के उल्लंघन से होने वाली हानि के संदर्भ में। राष्ट्र जो इस प्रकार के निर्णय को बाध्यकारी रूप से मानता है वह इसे बिना शर्त या परस्पर आपसी बदले के आधार पर किसी निश्चित अवधि तक मान सकता है।

इस प्रकार पंच निर्णय तथा न्यायिक आत्मनिर्णय के द्वारा विवादों को निपटाने की प्रक्रिया बड़ी सीमित होती

है। इस प्रकार के राज्यों के बीच विवादों के निपटारों को व्यक्तिगत निर्णयों से समाधान के समकक्ष नहीं माना जा सकता। जब यह व्यक्ति के विवादों के बारे में होता है जब यह कानून का गैर व्यक्तिपरक उपयोग होता है, परन्तु राज्यों के संदर्भ में ऐसा अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के कारण सम्भव नहीं है। इसलिए राज्यों के विवादों में कानून का प्रभाव हाशिए पर होता है तथा उसका विवादों के हल करने में बहुत सीमित प्रभाव होता है।

7.3.2 दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीके

जब शांतिपूर्ण तरीकों से समस्या का समाधान नहीं हो तब राज्य दण्डात्मक, परन्तु अहिंसक, कार्यवाही का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की ज्यादातर कार्यवाही राजनयिक तरीकों से प्रस्तावित होती है, परन्तु उनका अन्ततः दण्डात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया प्रमुख अहिंसात्मक कदमों में प्रमुख हैं – अपने देश के राजनयिकों को वापिस बुलाना, दूसरे देश के राजनयिकों को देश छोड़ने हेतु कहना, राज्य को मान्यता प्रदान न करना, राजनयिक संबंध विच्छेद, सन्धि समाप्त करना आदि। परन्तु इनसे भी प्रमुख निम्न तरीके वास्तव में युद्ध रहित दण्डात्मक कार्यवाही हेतु प्रयुक्त होते हैं—

7.3.2.1 संबंध विच्छेद

कई बार राष्ट्र की गतिविधियों के दण्ड स्वरूप किसी राज्य से संबंध तोड़ लेना भी दण्डात्मक प्रक्रिया होती है। इस संदर्भ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अपना लेन-देन समाप्त कर लेता है। वह उस राष्ट्र से वस्तुओं का आदान-प्रदान भी नहीं रखता। इस प्रकार की कार्यवाही से आर्थिक नुकसान से ज्यादा मनोवैज्ञानिक दबाव अधिक बढ़ जाता है। कई बार इस कारण वहां के नागरिकों की समस्या या राजनैतिक कठिनाई भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह कदम सामान्य अहिंसात्मक कार्यवाही की बजाय दण्डात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

7.3.2.2 अधिरोध

इसके अंतर्गत मुख्यतः दूसरे देशों की जहाजों को अपनी बन्दरगाहों पर रोकना है। जब एक राष्ट्र बदले की भावना स्वरूप दूसरे राष्ट्र के जहाजों को अपनी बन्दरगाहों में प्रवेश या निष्कासन पर मनाही करता है तो वह अधिरोध की कार्यवाही होती है। कई बार राष्ट्र इसके उल्लंघन करने वाले राष्ट्र से क्षतिपूर्ति की मांग भी करता है। परन्तु इस प्रकार जहाजों का रोकना क्षतिपूर्ति के बाद समाप्त हो जाता है।

7.3.2.3 प्रत्यपहार

प्रत्यपहार के द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतीकात्मक कार्यवाही करता है जिसके अंतर्गत किसी राष्ट्र के माल का बहिष्कार, नौसैनिक प्रदर्शन, गोलाबारी, पोतावारोध आदि सम्मिलित होते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया तभी न्योचित होती है यदि जिसके विरुद्ध कार्यवाही कई गई है वह राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय कानून का दोषी पाया जाए। इसकी मात्रा का निर्णय प्रभावित राज्य की हानि के अनुसार निश्चित होती है। अतः वर्तमान समय में विवादों को सुलझाने हेतु अपनाये गये बाध्यकारी प्रयासों से अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण को प्रभावित करना है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का प्रयोग गैर-कानूनी है, तथापि कतिपय अंतर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ कुछ परिस्थितियों में इसे वैध ठहराते हैं।

7.3.2.4 प्रतिकर्म

एक राष्ट्र के अभद्र व्यवहार की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे राष्ट्र द्वारा भी उसी प्रकार का व्यवहार किया जाना प्रतिकर्म है। तकनीकी रूप से इसे मात्र बदला नहीं कह सकते, बल्कि यह उससे कुछ अलग है। यह एक राष्ट्र की दूसरे के प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही अवश्य है, परन्तु इसे युद्ध की कार्यवाही हरगिज़ नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राष्ट्र को हानि पहुंचाने वाली कार्यवाही नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो

एक राष्ट्र करता है लगभग उसी प्रकार की कार्यवाही प्रत्युत्तर में की जाती है। उदाहरणस्वरूप, राजनयिकों को वापिस बुलाना, उन्हें देश से निष्कासित करना आदि।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों के माध्यम से राष्ट्रों का हानि पहुंचाने या उसके डर से एक मनोवैज्ञानिक दबाव बनाकर बाध्यकारी स्थिति उत्पन्न की जाती है। इससे राज्यों पर दण्डात्मक कार्यवाही होती है, परन्तु वह युद्ध की सीमा पर नहीं करती। इसी प्रकार के प्रभावी दबावों से उन समस्याओं को हल किया जाता है जिन्हें शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना सम्भव न हो।

7.3.3 युद्ध के द्वारा

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जब उपरोक्त दोनों प्रकार के तरीके विफल हो जाते हैं तब युद्ध के विकल्प का सहारा लिया जाता है। युद्ध के माध्यम से संघर्ष का निपटारा अंतिम होता है। इसका प्रत्युत्तर में कोई जवाब नहीं रहता। इसमें हिंसा का भरपूर प्रयोग होता है। परन्तु युद्ध के माध्यम से भी निम्न दो प्रकार से विवादों को हल किया जाता है –

7.3.3.1 सीमित युद्ध

वर्तमान समय में हथियारों के अति आधुनिकतम स्वरूप (परमाणु, जैविक व रासायनिक) विकसित होने के कारण जब राष्ट्र युद्धों को सीमित रखने के पक्षधर हैं। आज युद्धों का सार्वभौमिक स्वरूप (विश्वयुद्ध) उपलब्ध होने से भी “पूर्ण युद्ध” की कार्यवाही से राष्ट्र डरते हैं। परन्तु “संतुलित उद्देश्यों” हेतु संघर्षों के संदर्भ में ही सीमित युद्ध की कार्यवाही कारगर हो सकती है। “वर्चस्व स्थापित हेतु” संघर्षों में यह प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

सीमित युद्ध की कार्यवाही राष्ट्रों द्वारा सीमित उद्देश्यों हेतु ही प्रयोग होती है इसमें राष्ट्र अपने साधनों (हथियारों) पर भी निश्चित अंकुश बर्तते हैं। इन युद्धों की भौगोलिक एवं संसाधनों के व्यय की दृष्टि से भी सीमित रखने का प्रयास किया जाता है। इसमें युद्ध के उद्देश्य की प्राप्ति के बाद उसे समाप्त कर दिया जाता है, शत्रु का पूर्ण विनाश इसका उद्देश्य नहीं होता। राष्ट्र इस प्रकार के युद्धों के माध्यम से वार्ताओं हेतु स्थान भी सुरक्षित रखते हैं ताकि अन्ततः समस्या का हल निकल सके। अतः इस प्रकार के युद्धों में राष्ट्र स्वयं पर स्वेच्छा से अंकुश लगाते हुए अपने उद्देश्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं, शत्रु का विनाश करना उनका लक्ष्य नहीं होता। न ही इसके माध्यम से कोई बहुत बड़ा नुकसान पहुंचाना होता है। हां युद्ध तब तक लड़ा जाता है जब तक निर्धारित उद्देश्य न प्राप्त हो जाए या राष्ट्र वार्ताओं के माध्यम से समझाया को हल करने पर राजी न हो जाए।

7.3.3.2 सम्पूर्ण युद्ध

बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्धों ने युद्ध के स्वरूप को सीमित से सम्पूर्ण युद्ध में बदल दिया है। इसके अंतर्गत युद्ध की प्रक्रिया, विषय क्षेत्र व स्वरूप बिल्कुल परिवर्तित हो गए हैं। यद्यपि परमाणु रासायनिक व जैविक हथियारों की उपलब्धता ने इसकी व्यावहारिकता पर अंकुश लगा दिए हैं, तथापि इसकी शुरुआत की सम्भावना बिल्कुल नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। बल्कि यह सत्य है कि “वर्चस्व स्थापित हेतु उद्देश्यों” के सन्दर्भ में राष्ट्र अभी भी इस विकल्प की बात करते हैं। सामान्य तथा सम्पूर्ण युद्ध से होने वाले खतरों की दृष्टि में यह साधना प्रयोग में नहीं लाया जाता। इसके अतिरिक्त इससे दोनों प्रतिभागियों की समाप्ति का खतरा भी बना रहता है। इसमें हार-जीत भी निश्चित नहीं है। इसमें प्रयोग होने वाले हथियारों की समानता होना भी अनिवार्य नहीं होता। परन्तु फिर भी महाशक्तियों द्वारा इसके उपयोग की सम्भावनाओं को नहीं नकारा जा सकता। इस प्रकार के युद्ध में असीमित हिंसा का प्रयोग होता है। इसकी मूल मान्यता यह है कि जीत स्पष्ट रूप से तभी सम्भव होती है, अगर वह सम्पूर्ण है। इसीलिए इससे या तो सम्पूर्ण विनाश होगा या पूर्ण गुलामी। परन्तु इससे होने वाले परिणामों की गम्भीरता को देखते हुए राष्ट्र इस विकल्प के प्रयोग को उचित नहीं मानते। अतः इसका प्रयोग दुर्घटनावश या अराजकता की स्थिति में ही होने की सम्भावना रहती है।

7.4 सारांश

उपरोक्त विवरण से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रों के मध्य विभिन्न प्रकार के विवाद आज भी अस्तित्व में हैं। उन विवादों को निपटाने हेतु विभिन्न समाधान की पद्धतियां भी अपनाई गई हैं जिन्हें मुख्यतया तीन श्रेणियों—शांतिपूर्ण, युद्ध रहित दण्डात्मक एवं दण्डात्मक – तरीकों से हल किया जा सकता है। परन्तु इन तीन पद्धतियों में से मुख्य रूप से पहले दो पद्धतियों के अंतर्गत सम्मिलित तरीकों के माध्यम से ही हल करने की कोशिश की जाती रही है। तथा काफी हद तक इस बारे में सफलता भी प्राप्त हुई है। तीसरी पद्धति के तरीकों – युद्ध – को तो केवल अन्तिम विकल्प के रूप में ही अपनाया जाता है। इसके दुर्घटनावश प्रयोग की स्थिति पर भी अति शीघ्र नियंत्रण करने की कोशिश की जाती है। सामूहिक प्रयास से ही इसका प्रयोग व समाप्ति को बेहतर माना जाता है। अति आधुनिकतम हथियारों की उत्पत्ति ने इस विकल्प को समाप्त प्रायः या कुछ स्थितियों तक ही सीमित कर दिया है।

7.5 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य होने वाले संघर्षों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विवादों के समाधान के शान्तिपूर्ण तरीकों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विवादों को निपटाने हेतु दण्डात्मक कार्यवाही का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध के द्वारा विवादों के समाधान का आलोचनात्मक वर्णन करें।

7.6 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंस (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्स, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्यूयार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंस टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रुमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्टस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंस, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय-8

विश्व बैंक

अध्याय का ढांचा

अध्याय-9

पर्यावरण की राजनीति

अध्याय का ढांचा

क्षेत्रीय सहयोग

अध्याय का ढांचा

10.1 प्रस्तावना

10.1.1 अध्याय के उद्देश्य

10.2 क्षेत्रीय सहयोग से अभिप्राय

10.3 क्षेत्रीय सहयोग के प्रकार

10.4 क्षेत्रीय सहयोग के प्रेरक तत्व

10.4.1 भौगोलिक निकटता

10.4.2 सांस्कृतिक सम्बन्ध

10.4.3 स्थानीय भेदभाव समाप्त करने की इच्छा

10.4.4 राष्ट्रीय हित की भावना

10.4.5 राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना

10.4.6 आर्थिक हितों की पूर्ति

10.5 क्षेत्रीय सहयोग के प्रमुख उदाहरण

10.6 क्षेत्रीय सहयोग में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका

10.7 क्षेत्रीय सहयोग की आवश्यकता

10.8 सारांश

10.9 प्रश्नावली

10.10 पाठन सामग्री

10.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीय सहयोग का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति लम्बे समय से चली आ रही है। और आज यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक वास्तविकता है जिस पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग आधारित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों के परस्परिक अविश्वास और संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) में पैदा होने वाली राजनीति अड़चनों के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय सहयोग के संगठनों की उत्पत्ति और विकास को अधिक बल मिला। इनके निर्माण का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान करना तथा क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाना है। समान विचारधारा वाले देश समान हितों को प्राप्त करने के लिए जब क्षेत्रीय सहयोग की भावना के आधार पर कार्य करने की इच्छा रखने लगते हैं तो क्षेत्रीय सहयोग

संगठन का जन्म होता है। इसी क्षेत्रीय संगठन के माध्यम से सन्धिकर्ता राष्ट्र क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देकर अपने वांछित लक्ष्यों को पूरा करते हैं।

साधारणतया क्षेत्रीय सहयोग से भौगोलिक निकटता या अन्य प्रकार का साम्य रखने वाले देशों के आपसी सम्बन्धों का आभास होता है। लेकिन आज क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति भौगोलिक सीमाओं को लांघ चुकी है। इसमें वे देश भी शामिल हैं जो अन्य सदस्य देशों से काफी दूर हैं। आज क्षेत्रीय सहयोग का प्रमुख आधार सामान्य हित की अवधारणा है। OAS, अफ्रीकी एकता संगठन, यूरोपीय आर्थिक समुदाय भौगोलिक निकटता पर आधारित क्षेत्रीय सहयोग के प्रमुख उदाहरण हैं जबकि उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन, इस्लामिक सम्मेलन संगठन, तेल निर्यातक देशों का संगठन सामान्य हित की विचारधारा पर आधारित क्षेत्रीय सहयोग के संगठन हैं। आज अमेरिका तथा ब्रिटेन कई संगठनों के सदस्य हैं जिनके संगठन का आधार भौगोलिक न होकर हित साम्य है। इसलिए क्षेत्रवाद की अवधारणा एक जटिल अवधारणा बन गई है। इससे क्षेत्रवाद की सभी पुरानी मान्यताएं बदल गई हैं। आज भौगोलिक सीमाओं को कोई महत्व नहीं रह गया है।

10.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से विद्यार्थियों को राष्ट्रों के बीच क्षेत्रीय सहयोग के महत्त्व को समझाना है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि इस प्रकार का सहयोग ने केवल भौगोलिक निकटता वाले राष्ट्रों के बीच ही सम्भव है, बल्कि भौगोलिक दूरियों वाले राष्ट्रों के बीच भी वर्तमान आर्थिक स्थितियों के फलस्वरूप सम्भव है। इसीलिए यहाँ विभिन्न प्रकार के क्षेत्रीय स्वरूप एवं संगठनों की विस्तार पूर्वक जानकारी दी गई है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र की इस स्थिति में भूमिका तथा समसामयिक समय में इसके महत्त्व की जानकारी देना भी इस अध्याय का उद्देश्य है।

10.2 क्षेत्रीय सहयोग से अभिप्राय

भौगोलिक दृष्टि से समीपता रखने वाले हितों में साम्य रखने वाले कुछ देशों द्वारा संगठित होने की प्रवृत्ति को क्षेत्रीय सहयोग कहा जाता है। क्षेत्रीय सहयोग के लिए कुछ देश क्षेत्रीय आधार पर संगठित होकर अपने हितों को पूरा करते हैं। पामर व पर्किन्स ने क्षेत्रीय सहयोग या संगठन को परिभाषित करते हुए कहा है कि "क्षेत्रीय सहयोग ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें दो या दो से अधिक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य समान हित के आधार पर संगठित होकर कार्य करते हैं।" इसके लिए भौगोलिक निकटता का होना अनिवार्य नहीं है। आज बदलते संदर्भ में क्षेत्रीय सहयोग का अर्थ है – उन सभी राज्यों के समूहों के बीच सहयोग स्थापित करना जो अपने आपको भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक हितों के रूप में बंधा हुआ महसूस करते हैं।

10.3 क्षेत्रीय सहयोग के प्रकार

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्मित क्षेत्रीय सहयोग संगठनों के आधार पर क्षेत्रीय सहयोग को दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. क्षेत्रीय सैनिक सहयोग
2. गैर सैनिक क्षेत्रीय सहयोग।

1945 के बाद निर्मित सैनिक सन्धि संगठन जैसे – नाटो, सेण्टो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि संगठन सैनिक सहयोग के उदाहरण हैं। इन संगठनों की स्थापना का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को सैनिक आधार पर संगठित करना था।

किन्तु सैनिकवादी संगठनों की प्रवृत्ति ज्यादा दिन तक नहीं चल सकी और अनेक देशों ने सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए अपने आपको संगठित करना शुरू कर दिया और इससे गैर सैनिक क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का जन्म हुआ। अरब लीग, सार्क, आसियान इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

10.4 क्षेत्रीय सहयोग के प्रेरक तत्व –

क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति को जन्म देने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं –

10.4.1 भौगोलिक निकटता

भौगोलिक रूप से अलग देशों का समूह अन्य भौगोलिक अध्यायों से अलग विचारधारा रखता है। प्राकृतिक साधनों का वितरण उन्हें संगठित होने के लिए प्रेरित करता है। वे एक दूसरे को सहयोग देने की भावना रखने लगते हैं। आज सामरिक दृष्टि से भी भौगोलिक एकता की आवश्यकता है। OAS का निर्माण इसका प्रमुख उदाहरण है।

10.4.2 सांस्कृतिक सम्बन्ध

एक महाद्वीप में बसने वाली समान जाति, बोली और धर्म भी क्षेत्रीय सहयोग को प्रेरित करती है। अरब लीग सांस्कृतिक सहयोग का प्रमुख उदाहरण है। इसमें सभी इस्लाम धर्म को मानने वाले देश शामिल हैं।

10.4.3 स्थानीय भेदभाव समाप्त करने की इच्छा

जब कुछ राज्य अपने क्षेत्रों से स्थानीय भेदभाव मिटाने की इच्छा रखते हैं तो उससे क्षेत्रीय सहयोग की भावना का जन्म होता है। पश्चिमी गोलार्द्ध में OAS का निर्माण तथा अफ्रीकी एकता संगठन का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

10.4.4 राष्ट्रीय हित की भावना

जब क्षेत्रीय व्यवस्था से राष्ट्रीय हितों की पूर्ति की प्रबल संभावना हो तो कुछ राष्ट्र आपस में मिलकर क्षेत्रीय सहयोग करते हैं। इससे उनको अपनी सुरक्षा व विकास के अधिकार अवसर प्राप्त होते हैं।

10.4.5 राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना

जब किसी देश को बाहरी आक्रमण का खतरा हो या राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा खतरे में लगती हो तो अन्य देशों के साथ मिलकर अपने को सुरक्षित बनाने पर विचार करने लगता है। पाकिस्तान ने चीन, रूस व भारत से खतरा मानते हुए सैनिक संगठन सेण्टो की सदस्यता ग्रहण की है। इसलिए सुरक्षा के उद्देश्य से भी क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का जन्म होता है।

10.4.6 आर्थिक हितों की पूर्ति

प्रत्येक देश के अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अवश्य होते हैं। अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए वह परस्पर सहयोग की भावना रखने लगता है और क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति अस्तित्व में आ जाती है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय, यूरोपीय सांझा बाजार इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

10.5 क्षेत्रीय सहयोग के प्रमुख उदाहरण

क्षेत्रीय सहयोग की प्रवृत्ति काफी लम्बे समय से चली आ रही है। प्रथम विश्व युद्ध से पहले भी 1889 में 'अन्तर अमेरिकी व्यवस्था' क्षेत्रीय सहयोग के रूप में विद्यमान थी। 1925 की संघ राष्ट्रीय सन्धि भी क्षेत्रीय सहयोग का प्रमुख उदाहरण है। लेकिन सैद्धान्तिक रूप में क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देने में UNO की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। आज विश्व में अनेकों क्षेत्रीय सहयोग संगठन कार्यरत हैं जो क्षेत्रीय सहयोग के पुख्ता उदाहरण हैं। इनमें से कुछ प्रमुख संगठन निम्नलिखित हैं –

1. उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (NATO, 1949)।
2. दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO, 1954)।
3. आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा संयुक्त राज्य समझौता (ANZUS, 1951)।
4. अरब लीग (1954)।
5. दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ (ASEAN, 1967)।
6. अफ्रीका एकता संगठन (OAU, 1963)।
7. अमेरिकी राज्यों का संघ (OAS, 1948)।
8. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (SAARC, 1985)।
9. हिन्द महासागर क्षेत्रीय सहयोग संगठन (IORARC, 1997)।
10. एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग (APEC, 1989)।
11. यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन (OEEC, 1948)।
12. आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (OECD, 1961)।
13. यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय (ECSC, 1952)।
14. यूरोपीय सांझा बाजार (ECM, 1958)।

10.6 क्षेत्रीय सहयोग में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को मजबूत के लिए UNO के चार्टर की धारा 52 में स्पष्ट लिखा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय संगठनों द्वारा की गई कार्यवाहियां संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों व सिद्धान्तों के अनुकूल होनी चाहिए। आगे कहा गया कि क्षेत्रीय संगठनों के सदस्य स्थानीय झगड़ों को आपसी बातचीत द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयास करें। UNO के चार्टर में सुरक्षा परिषद को यह अधिकार दिया गया है कि वह क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा ही स्थानीय झगड़ों का निपटारा करने का प्रयास करे। धारा 54 में क्षेत्रीय संगठनों द्वारा किसी भी आक्रामक कार्यवाही की सूचना सुरक्षा परिषद को देना आवश्यक है लेकिन धारा 51 में सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के लिए ऐसा अनिवार्य नहीं है। इतना होने के बावजूद भी UNO को क्षेत्रीय संगठनों की तरफ से विश्व शान्ति के लिए कोई अधिक सहायता प्राप्त नहीं हो सकी है। सैन्य क्षेत्रीय संगठनों ने UNO की गतिविधियों को कमजोर किया है। यदि दोनों (क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय) संगठन साथ-साथ कार्य करें तो विश्व शान्ति की सम्भावना अधिक प्रबल होगी। गैर सैनिक संगठन कुछ हद तक UNO के उद्देश्यों व सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। इनसे क्षेत्रीय सहयोग के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का आधार मजबूत हो रहा है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है हमें UNO को मजबूरी प्रदान करने के लिए क्षेत्रीय संगठनों का पूरा सहयोग उस ओर मोड़ना चाहिए। ताकि क्षेत्रीय सहयोग के साथ अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में भी वृद्धि हो सके।

10.7 क्षेत्रीय सहयोग की आवश्यकता

आज का युग परमाणु हथियारों का युग है। आज प्रत्येक देश अपने को सामरिक दृष्टि से सुरक्षित देखना चाहता

है। इसके लिए वह अन्य राष्ट्रों का सहयोग चाहता है। सम्पूर्ण विश्व को एक अध्याय में बांधना कठिन कार्य है लेकिन कुछ समान विचारधारा वाले देशों को तो आपस में जोड़कर विश्व शान्ति का विचार पुख्ता किया जा सकता है। आज भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति के आधार पर कुछ राष्ट्रों का संघ बनाना आसान है जो स्थानीय समस्याओं का हल भली-भांति कर सकता है। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना से विश्व शान्ति की जो उम्मीदें बंधी थी, वे निरन्तर समाप्त होती जा रही हैं। इसलिए आज विश्व व्यवस्था को क्षेत्रीय व्यवस्था में विभाजित करने की आवश्यकता है। NATO, SEATO व सैण्टों ने प्रादेशिक आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाया है। इसी तरह की अन्य व्यवस्थाएं भी इस दिशा में कार्यरत हैं। जब समान विचारधारा वाले अनेक राष्ट्र संगठित हो जाते हैं तो वे पारस्परिक सहयोग के आधार पर अनेकों सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याएं स्वयं हल कर लेते हैं। आज सम्पूर्ण विश्व में सांझा बाजार की व्यवस्था करना दुस्कर कार्य है। इसलिए परस्पर समान हितों वाले अनेक राष्ट्र क्षेत्रीय आधार पर सांझा बाजारों का विकास करने में लगे हुए हैं। आज यूरोपीय राष्ट्र अलग सांझा बाजार बनाकर सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने में सक्षम हैं तो अन्य राष्ट्र समूह भी ऐसा ही कर सकते हैं। इससे उनकी आर्थिक समस्याओं के साथ-साथ अन्य ढेर सारी समस्याएं भी स्वयः ही हल हो जाएंगी। इससे विभिन्न राष्ट्रों के सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होंगे। इससे आर्थिक सहयोग का जो नया क्षेत्र विकसित होगा वह अवश्य ही वर्तमान व्यवस्था से अच्छा होगा।

10.8 सारांश

मूलरूप में इस अध्याय में क्षेत्रीय सहयोग के सभी पहलुओं के बारे में विस्तारपूर्वक बताया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस प्रकार का सहयोग निकट भौगोलिक राष्ट्रों के साथ भौगोलिक रूप से दूरी वाले राष्ट्रों के बीच भी सम्भव है। इस प्रकार का सहयोग राजनीतिक या सामरिक के अतिरिक्त सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में भी सम्भव है। वर्तमान युग में सभी महाद्वीपों में इस प्रकार के बहुत सारे संगठन कार्यरत हैं। संयुक्त राष्ट्र भी वैश्विक सन्दर्भों के साथ-साथ क्षेत्रीय सहयोग को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। समसामयिक युग में तकनीक एवं संचार के साधनों के विकास ने इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया है। अतः आज के युग में क्षेत्रीय सहयोग अनिवार्य ही नहीं, अपितु अपरिहार्य स्थिति बन गई है।

10.9 प्रश्नावली

1. क्षेत्रीय सहयोग से आपका क्या अभिप्राय है? क्षेत्रीय सहयोग के निर्धारिक तत्वों का विस्तार पूर्वक वर्णन करें।
2. समसामयिक समय में क्षेत्रीय सहयोग की बढ़ती प्रवृत्तियों के कारणों एवं परिणामों का वर्णन करें।
3. क्षेत्रीय सहयोग के विकास हेतु संयुक्त राष्ट्र की भूमिका का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
4. शीतयुद्ध काल एवं शीतयुद्धोत्तर युग में क्षेत्रीय सहयोग के स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

10.10 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)

4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्टस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (दक्षेस)

अध्याय का ढांचा

11.1 प्रस्तावना

11.1.1 अध्याय के उद्देश्य

11.2 दक्षेस की स्थापना

11.3 दक्षेस के उद्देश्य

11.4 दक्षेस के सिद्धान्त

11.5 दक्षेस की संरचना

11.5.1 शिखर सम्मेलन

11.5.2 मन्त्रिपरिषद

11.5.3 स्थायी समिति

11.5.4 तकनीकी समितियां

11.5.5 सचिवालय

11.6 दक्षेस के शिखर सम्मेलन

11.7 मूल्यांकन

11.8 सारांश

11.9 प्रश्नावली

11.10 पाठन सामग्री

11.1 प्रस्तावना

'दक्षिण एशिया' शब्द का प्रयोग भारत के उत्तर में हिंदुकुश व हिमालय से लेकर दक्षिण में अरब सागर, हिन्द महासागर तथा बंगाल की खाड़ी के मध्य स्थित सुविस्तीर्ण भारतीय प्रायद्वीप से बने भारतीय उपमहाद्वीपीय देशों के समूह के लिए किया जाता है। भौगोलिक दृष्टि से भारतीय महाद्वीप एशिया महाद्वीप से एक पृथक ईकाई लगता है। लेकिन इस क्षेत्र के लोगों में सदैव राजनीतिक एकता का अभाव रहा है। काफी लम्बे समय तक 'दक्षिण-एशिया' पर ब्रिटिश शासन का वर्चस्व रहा है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह क्षेत्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गया लेकिन इसमें आपसी मतभेदों का अम्बार लगा रहा। साम्राज्यवादी चुंगल से निकलने के बाद इस क्षेत्र में आर्थिक विकास की गति काफी धीमी रही। भारत और पाकिस्तान के आपसी मतभेदों ने इस क्षेत्र को कहल का अखाड़ा बना दिया। भारत की तरफ से आपसी मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के अनेकों प्रयास किए गए लेकिन पाकिस्तान का उत्तर नकारात्मक ही रहा। बंगलादेश के जन्म के साथ ही भारत व पाकिस्तान सम्बन्धों में कुछ बदलाव आया

और पारस्परिक सौहार्दपूर्ण वार्ताएं शुरू हो गईं। ऐसे वातावरण में बंगलादेश के राष्ट्रपति जिआ-उर-रहमान की तरफ से एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन बनाने का विचार पेश किया गया।

11.1.1 अध्याय का उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य दक्षिण एशिया में दक्षेस के विशेष सन्दर्भ में ऊभरते क्षेत्रीय सहयोग का आंकलन करना है। इस अध्याय में दक्षेस की स्थापना, उद्देश्य, सिद्धान्त एवं संरचना के साथ-साथ इसके द्वारा आयोजित वार्षिक शिखर सम्मेलनों की विस्तृत जानकारी प्रदान करना है। इन सब का उद्देश्य दक्षिण एशिया में सहयोग की स्थिति को समझकर उसका मूल्यांकन करना है। इसी मूल्यांकन के आधार पर दक्षिण एशिया में सहयोग की भावी सम्भावनाओं को समझने में मदद मिलेगी।

11.2 दक्षेस की स्थापना

1980 के दशक क्षेत्रीय सहयोग के लिए सबसे महत्वपूर्ण समय साबित हुआ। 1981 में बंगलादेश के तत्कालीन राष्ट्रपति जिआ-उर-रहमान ने दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग सम्वर्धन हेतु एक नवीन योजना प्रस्तुत की। मन्त्रीस्तरीय वार्ताओं द्वारा इसे अमली जामा पहनाने के प्रयास उस समय सार्थक हो गए जब अगस्त, 1983 में सात देशों के विदेश मन्त्रियों ने एक सामूहिक क्षेत्रीय सहयोग का घोषणा पत्र नई दिल्ली में स्वीकार किया। इस घोषणापत्र में दक्षिण-एशियाई क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। इसके लिए आपसी सहयोग को मजबूत बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया तथा सहयोग के नए क्षेत्र तलाशने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके बाद 1984 की नई दिल्ली की बैठक में दक्षिण एशियाई देशों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ मैत्रीपूर्ण राजनीतिक संबंधों के विकास का आह्वान किया गया। इसके पश्चात् फरवरी 1985 की माले में स्थाई कमेटी की बैठक में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए सार्क देशों की मन्त्रिपरिषद के निर्माण पर बल दिया गया। मई 1985 की थिम्पू बैठक में सार्क देशों अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए सार्क देशों ने एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन को अमली जामा पहनाया। इसमें यह निश्चय किया गया कि दिसम्बर, 1985 में ही इस संगठन का सम्मेलन बुलाया जाएगा। इस तरह थिम्पू (भूटान) बैठक द्वारा SAARC की स्थापना का रास्ता साफ हो गया और ढाका घोषणापत्र के रूप में सार्क (SAARC) का जन्म हुआ। 7 दिसम्बर, 1985 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में सात दक्षिण एशियाई देशों – भारत, मालदीव, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान, बंगलादेश तथा श्रीलंका ने सार्क के घोषणापत्र पर औपचारिक हस्ताक्षर किए।

11.3 दक्षेस के उद्देश्य

सार्क के चार्टर के अनुच्छेद 1 में सार्क के निम्नलिखित उद्देश्यों को परिभाषित किया गया है –

1. दक्षिण-एशिया के देशों की जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करना तथा उनके जीवन स्तर में सुधार लाना।
2. दक्षिण एशियाई देशों की सामूहिक आत्मनिर्भरता का विकास करना।
3. इस क्षेत्र में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक विकास की गति तेज करना।
4. सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग में वृद्धि करना।
5. अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग को मजबूत बनाना अन्य क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना।

6. दूसरे विकासशील देशों के साथ सहयोग को बढ़ाना।
7. सदस्य देशों में आपसी विश्वास बढ़ाना तथा समस्याओं को समझने के लिए एक दूसरे का सहयोग करना।

11.4 दक्षेस के सिद्धान्त

सार्क के चार्ट के अनुच्छेद 2 के अंतर्गत सार्क के निम्नलिखित सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है :-

1. सार्क के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग, समानता, क्षेत्रीय अखण्डता, राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।
2. क्षेत्रीय सहयोग को द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग का पूरक बनाना।
3. क्षेत्रीय सहयोग को द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग के उत्तरदायित्वों के अनुकूल बनाना।

11.5 दक्षेस की संरचना

सार्क के चार्टर के अंतर्गत सार्क के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित अभिकरणों की व्यवस्था की गई है:

11.5.1 शिखर सम्मेलन

इसमें सदस्य देशों के शासनाध्यक्ष आपसी समस्याओं पर विचार करने व सहयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित होते हैं। सार्क का पहला शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1985 में ढाका में हुआ था। अब तक इसके 11 शिखर सम्मेलन आयोजित हो चुके हैं। सार्क का 11वां शिखर सम्मेलन जनवरी, 2002 में काठमांडू में आयोजित हुआ।

11.5.2 मन्त्रिपरिषद

इसमें सदस्य देशों के विदेश मन्त्री शामिल होते हैं। इसके बैठक आवश्यकतानुसार कभी भी आयोजित की जा सकती है। इसको प्रमुख कार्य संघ की नीति निर्धारित करना, सामान्य हित के मुद्दों के बारे में निर्णय करना व सहयोग के लिए नए क्षेत्र तलाश करना है।

11.5.3 स्थायी समिति

इसमें सदस्य देशों के सचिव शामिल हैं। इसका कार्य सहयोग के कार्यक्रमों की मॉनिटरिंग करना तथा अध्ययन के आधार पर सहयोग के नए मित्रों की पहचान करना है। यह तकनीकी समिति के कार्यों का निरीक्षण करती है व उसके कार्यों को प्रभावी बनाने के लिए सुझाव भी देती है।

11.5.4 तकनीकी समितियां

इसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये अपने-अपने क्षेत्र में कार्यक्रम लागू करने, समन्वय करने व उन्हें मॉनिटरिंग करने के लिए उत्तरदायी हैं। ये सहयोग के नए क्षेत्रों की सम्भावनाओं का भी पता लगाती है। इनके सभी कार्य तकनीकी आधार के हैं।

11.5.5 सचिवालय

महासचिव इसका अध्यक्ष होता है। उसका कार्यकाल 2 वर्ष होता है। यह पद सदस्य देशों को बारी-बारी से प्राप्त होता रहता है। सचिवालय को 7 भागों में बांटा गया है। प्रत्येक विभाग का कार्य निदेशक की देखरेख में चलता है। सचिवालय संगठन के प्रशासनिक कार्यों का निष्पादन करता है। इसकी स्थापना 16 जनवरी, 1987 को दूसरी सार्क सम्मेलन (बंगलौर) द्वारा की गई है। इनके अतिरिक्त सार्क की एक कार्यकारी समिति भी है। जिसकी स्थापना

स्थायी समिति द्वारा की जाती है। सार्क के कार्यों के निष्पादन के लिए एक वित्तीय संस्था का भी प्रावधान किया गया है। जिसमें सभी सदस्य देश निर्धारित अंशदानके आधार पर वित्तीय सहयोग देते हैं। इसमें भारत का हिस्सा 32 प्रतिशत है।

11.6 दक्षेस के शिखर सम्मेलन

1985 से अब तक SAARC के 18 शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। उनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है –

1. **पहला शिखर सम्मेलन** – सार्क का प्रथम शिखर सम्मेलन 7 से 8 दिसम्बर, 1985 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में हुआ। इसमें सातों सदस्य देशों ने भाग लिया। यह सम्मेलन जिआ-उर-रहमान के स्वप्न का साकार रूप था। इसके आयोजन से एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन का सैद्धान्तिक आधार तैयार हो गया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता बंगलादेश के राष्ट्रपति एच.एम. इरशाद ने की। इस सम्मेलन में (SAARC) के उद्देश्यों व सिद्धान्तों पर आपसी सहमति हो गई। इसमें जो घोषण पत्र प्रस्तुत किया गया उसमें सदस्य देशों को प्रतिवर्ष किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित होने के लिए कहा गया। इसमें एक मन्त्रिपरिषद बनाने का भी निर्णय हुआ। इसमें तकनीकी समिति व कार्यकारी समिति के निर्माण की बात भी पास हो गई। इस सम्मेलन में विभिन्न समस्याओं तथा सहयोग के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ।
2. **दूसरा शिखर सम्मेलन** – SAARC का द्वितीय शिखर सम्मेलन 16-17 नवम्बर, 1986 को बंगलौर (भारत) में हुआ। यह सम्मेलन दो दिन तक चला और इसमें सभी सदस्य देशों ने विभिन्न समस्याओं व सहयोग के क्षेत्रों पर व्यापक विचार विमर्श करके सांझी योजनाएं व नीतियां बनाने का समर्थन किया। इस सम्मेलन में भारत का नेतृत्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने किया। उन्होंने बंगलादेश के राष्ट्रपति इरशाद से SAARC का अध्यक्ष पद भी प्राप्त किया। इसमें बंगलादेश के अनुभवी कूटनीतिज्ञ अबुल हसल को सार्क का महासचिव नियुक्त किया गया। इसमें विकासशील गतिविधियों में स्त्रियों के सहयोग पर तथा मादक पदार्थों के प्रयोग को बन्द करने के लिए एक तकनीकी समिति के निर्माण का निर्णय हुआ। इसमें सहयोग के नए क्षेत्रों रेडियो-दूरदर्शन कार्यक्रम, पर्यटन, शिक्षा व आपदा प्रबन्ध पर अध्ययन को शामिल किया गया। इसमें दक्षिण एशिया को आतंकवाद से मुक्त करने पर भी आपसी समझौता करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यद्यपि इस सम्मेलन में पाकिस्तान ने द्विपक्षीय मुद्दे उठाकर माहौल को खराब करने की कोशिश की लेकिन वह असफल रहा। जब भारत ने दक्षिण एशिया में एक सांक्षा बाजार (Common Market) स्थापित करने की बात कही तो पाकिस्तान ने इसका विरोध किया। पाकिस्तान भारत की बड़ी आर्थिक भागेदारी से चिन्तित था। इस सम्मेलन में विकासशील देशों पर बढ़ते ऋणों के भार पर भी चिन्ता प्रकट की गई। इसमें NIEO की मांग भी दोहराई गई तथा परमाणु निःशस्त्रीकरण पर काफी जोर दिया गया। इस प्रकार SAARC का द्वितीय शिखर सम्मेलन एक ऐतिहासिक यादगार बन गया।
3. **तीसरा शिखर सम्मेलन** – SAARC का तीसरा शिखर सम्मेलन नवम्बर, 1987 में नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में आतंकवाद निरोधक समझौता किया गया जिसमें प्रत्येक सार्क देश को किसी अन्य देश में आतंकवादी गतिविधियां संचालित न करने की बात कहीं गई। इसमें आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त व्यक्ति को अपने-अपने देशों में राजनीतिक शरण न देने पर सहमति हुई। नेपाल नरेश ने सार्क की मूल भावना सहयोग व आपसी सौहार्द को मजबूत बनाने का आह्वान किया। इसमें भारत के सहयोग को भी सराहा गया। भारत ने इस सम्मेलन में केन्द्रीय आर्थिक क्षेत्रों जैसे – व्यापार, उद्योग, शक्ति तथा वातावरण में सहयोग देने का विचार रखा लेकिन उसे पूर्ण समर्थन न मिलने के कारण घोषणा पत्र में शामिल नहीं किया गया। भारत ने अफगानिस्तान को सार्क का सदस्य बनाने पर अपनी सहमति प्रकट की तथा पाकिस्तान ने 'दक्षिण-एशियाई परमाणु विहीन क्षेत्र' की बात कही। इन प्रस्तावों को भी अन्तिम घोषणा

पत्र में स्थान नहीं मिल सका। इस सम्मेलन में दक्षिण एशिया संरक्षित खाद्यान्न भंडार समझौता भी हुआ ताकि इस क्षेत्र में खाद्यान्न की कमी या अकाल की स्थिति में उसका सामना किया जा सके।

4. **चौथा शिखर सम्मेलन** – सार्क का चौथा शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1988 में इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में आयोजित हुआ। इसकी अध्यक्षता पाकिस्तान की प्रधानमन्त्री बेनजीर भुट्टो ने की। इस सम्मेलन में सार्क के सिद्धान्तों के प्रति वचनबद्धता को दोहराया गया। 31 दिसम्बर को जारी इस्लामाबाद घोषणापत्र में मादक पदार्थों के उत्पादन, तस्करी व दुरुपयोग पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई और 1989 को 'मादक पदार्थों के दुरुपयोग के विरुद्ध सार्क वर्ष' घोषित करने का निर्णय लिया गया। इस सम्मेलन में सार्क के शासनाध्यक्षों ने इस शताब्दी के अन्त तक खाद्यान्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य, जनसंख्या नियंत्रण व पर्यावरण संरक्षण पर एक सामूहिक कार्य योजना बनाने का निश्चय किया गया जिसे "सार्क-2000, बुनियादी आवश्यकता परियोजना के नाम से जाना जाता है। इस सम्मेलन में दक्षिण एशियाई उत्सवों को समय-समय पर आयोजित करने का निर्णय लिया गया। इसमें ग्रीन हाउस प्रभाव तथा दक्षिण एशिया पर इसके प्रभावों के अध्ययन को सामूहिक रूप से आगे बढ़ाने पर भी निर्णय हुआ। इसमें काठमाण्डू घोषणापत्र के प्रावधानों को भी दोहराया गया।
5. **पांचवां शिखर सम्मेलन** – सार्क का पांचवां शिखर सम्मेलन मालदीव की राजधानी माले में (नवम्बर, 1990) हुआ। इसमें भारत का नेतृत्व प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर ने किया। उन्होंने सार्क क्षेत्र को शान्ति क्षेत्र घोषित करने पर बल दिया। सम्मेलन के घोषणापत्र में आर्थिक क्षेत्र में आपसी सहयोग बढ़ाने तथा जन संचार माध्यम, जैविक तकनीकी और पर्यावरण को आर्थिक मुद्दों में शामिल करने पर सहमति की बात स्वीकार की गई। इसमें मादक पदार्थों के गैर कानूनी व्यापार मादक पदार्थों की तस्करी तथा अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध गहरी चिन्ता प्रकट की गई। इसमें यह भी निर्णय लिया गया कि सार्क का अगला सम्मेलन श्रीलंका में होगा। इस सम्मेलन में 1991 को सार्क आवास वर्ष, 1992 को सार्क पर्यावरण वर्ष तथा 1993 को सार्क अपंग व्यक्ति वर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।
6. **छठा शिखर सम्मेलन** – सार्क का छठा शिखर सम्मेलन 21 दिसम्बर, 1991 को कोलम्बो (श्रीलंका) में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में भारत का नेतृत्व प्रधानमन्त्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने किया। इस सम्मेलन में क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान के लिए क्षेत्रीय सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसमें आतंकवाद, की निंदा करने, निःशस्त्रीकरण का स्वागत करने, गरीबी निवारण हेतु दक्षिण-एशियाई समिति का गठन करने तथा सार्क देशों में प्राथमिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार करने पर जोर दिया गया। भारत ने सांझी आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान किया। इसमें संयुक्त उद्योग स्थापित करने तथा क्षेत्रीय परियोजनाओं को पूरा करने हेतु एक सामूहिक कोष गठित करने का निर्णय लिया गया।
7. **सातवां शिखर सम्मेलन** – सार्क का सातवां शिखर सम्मेलन बंगला देश की राजधानी ढाका में 11-13 अप्रैल, 1993 को आयोजित हुआ। इसमें सभी सदस्य देशों ने भाग लिया। इसमें भारत की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने की। इसमें अतःक्षेत्रीय व्यापार के उदारीकरण के लिए एक समझौता (SAPTA) किया गया। इसमें व्यापार वस्तु, निर्माण और सेवाएं, पर्यावरण, जनसंख्या, आवास, बच्चों, अपंग, व्यक्तियों, स्त्री विकास, प्रौद्योगिकी, आतंकवाद, मादक पदार्थों का व्यापार आदि के सम्बन्ध में सार्क घोषणा पत्र में संगठित कार्य योजना को भी स्वीकार किया गया। इसमें सार्क को मजबूत बनाने के निश्चय को भी दोहराया गया तथा अगला सार्क सम्मेलन भारत में आयोजित करने की घोषणा की गई।
8. **आठवां शिखर सम्मेलन** – सार्क का आठवां शिखर सम्मेलन 3-4 मई, 1995 को भारत की राजधानी नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। इसमें सभी देशों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इसके घोषणापत्र में सभी देशों

द्वारा गरीबी और आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया गया। इसमें (SAPTA) समझौता लागू करने का भी निश्चय किया गया। इस सम्मेलन में आतंकवाद के बढ़ते प्रभाव तथा परमाणु शस्त्रों की बढ़ती होड़ पर नियंत्रण करने की मांग की गई। इसमें वर्ष 1995 को गरीबी समाप्ति का वर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया। इसमें सार्क को अधिक उपयोगी संस्था के रूप में विकसित करने पर भी विचार-विमर्श हुआ।

9. **नौवां शिखर सम्मेलन** – सार्क देशों का नौवां शिखर सम्मेलन मई, 1997 में मालदीव की राजधानी माले में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में भारत की अध्यक्षता प्रधानमंत्री इन्द्र कुमार गुजराल ने की। इसमें सभी सदस्य देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भारत ने दक्षिण एशियार्द आर्थिक समुदाय के गठन का आह्वान भी किया। इसमें दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र (SAFTA) की 2001 में स्थापना के लिए प्रयासों को तेज करने की घोषणा की गई। इसमें गरीबी उन्मूलन व स्त्रियों की खरीद-फरोख्त पर भी व्यापक विचार विमर्श हुआ। माले घोषणा पत्र में अगला सम्मेलन श्रीलंका में आयोजित करने का निर्णय लिया गया। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद का विस्तार करने का भी आह्वान किया गया। इसमें इस क्षेत्र से वीजा अवरोधक समाप्त करने व शरणार्थी कानून के दुरुपयोग पर रोक लगाने का निर्णय लिया गया। इसमें आतंकवाद को रोकने के लिए ठोस कदम उठाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसमें सार्क देशों के बीच आवागमन, पर्यटन तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा देने का भी संकल्प लिया गया।
10. **दसवां शिखर सम्मेलन** – सार्क का दसवां शिखर सम्मेलन 29 जुलाई 1998 को श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में आयोजित हुआ। इसमें भारत का नेतृत्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। इसमें भारत ने सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण की बात कही। इसके घोषणापत्र में सार्क देशों की एकीकृत कार्य योजना पर बल दिया गया। इसमें आर्थिक विकास के लिए सांझे आर्थिक कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इसमें आतंकवाद पर नियंत्रण तस्करी पर रोक, स्वास्थ्य, जनसंख्या, महिला व बाल कल्याण योजनाओं पर बल तथा पर्यावरण सुरक्षा को महत्व दिया गया। इसमें भारत की तरफ से 2000 वस्तुओं के तटकर को कम करने की घोषणा की गई। इसमें सदस्य देशों को विज्ञान व तकनीकी सहयोग में वृद्धि करने की आवश्यकता पर बल दिया गया तथा SAFTA की 2001 तक स्थापना करने का निर्णय लिया गया।
11. **ग्यारहवां शिखर सम्मेलन** – सार्क का 11वां शिखर सम्मेलन काफी लम्बे समय बाद जनवरी, 2002 को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में हुआ। यह सम्मेलन उस वातावरण में हुआ जब भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध के आसार थे। पाकिस्तान, ने इस सम्मेलन में अपने द्विपक्षीय मुद्दों को उठाने का प्रयास किया लेकिन उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा। 6 जनवरी, 2002 को जारी सार्क घोषणापत्र में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की समाप्ति के प्रति वचनबद्धता को व्यक्त किया गया। सार्क नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से यह प्रार्थना की कि आतंकवाद के विरुद्ध कठोर कानून बनाए जाए। इसमें सांझे हित के विषयों – आर्थिक सहयोग, गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, स्त्री व बाल कल्याण आदि पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया। इसमें दक्षिण एशिया की अर्थव्यवस्था के एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने तथा विश्वीकरण (Globalisation) के प्रभावों को कम करने के लिए केन्द्रीय क्षेत्रों-व्यापार, वित्त व निवेश में सहयोग बढ़ाने का आह्वान किया गया। इसमें यह भी निर्णय किया गया कि अगला सार्क शिखर सम्मेलन पाकिस्तान में (2003) होगा।
12. **12वे से 18वे सम्मेलन**— दक्षिण देशों के 2002 से 2020 तक कुछ अठारह शिखर सम्मेलन ही हो पाये, जो इस प्रकार से हैं बारहवाँ (4-6 जनवरी 2004, इस्लामवादी), तेहवाँ (12-13 नवम्बर 2005, ढाका), चौदवाँ (3-4 अप्रैल 2007, नई दिल्ली), पन्द्रहवाँ (1-3 अगस्त 2008, कोलम्बो), सोलहवाँ (28-29 अप्रैल 2010, पिम्पू), सतरहवाँ (10-11 नवम्बर 2011, माले), तथा अठारहवाँ (26-27 नवम्बर 2014, काठमाण्डू)। इसके बाद

उनीसवाँ सम्मेलन 15-16 नवम्बर 2016 में इस्लामाबाद में प्रतापित था, परन्तु पाकिस्तान की डरी में आतंकवादी घटना के कारण भारत ने इसमें हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया। बाद में बाकी देशों ने भी इन्कार कर दिया। तब ये आज तक दक्षेस का वार्षिक शिखर सम्मेलन आयोजित नहीं हो पाया है। समसामयिक घटनाक्रम व भारत-पाकिस्तान द्विपक्षीय रिस्तों को देखते हुए इसके निकट भविष्य में होने की सम्भावनाएँ भी बहुत कम हैं।

11.7 मूल्यांकन

जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए SAARC का जन्म हुआ था, उनको प्राप्त करने में यह संगठन अधिक सफल नहीं रहा है। आज समस्त विश्व क्षेत्रीय सहयोग की उपयोगिता को स्वीकारने लगा है तो SAARC को भी इस दिशा में अथक प्रयास करने की जरूरत है। आज भारत व पाकिस्तान के आपसी मतभेद दक्षिण एशिया में अशान्ति के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं। अन्य SAARC देश भी सैनिक ताकतों के साथ मिलकर क्षेत्रीय सहयोग की भावना के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। यदि SAARC के सदस्य देश आपसी मतभेद भुलाकर एक सहयोगपूर्ण नीति पर चलें तो दक्षिण एशिया विश्व के सामने एक नई चुनौती पेश कर सकता है। इस क्षेत्र में आर्थिक विकास के काफी अवसर हैं जो आपसी तकनीकी व आर्थिक सहयोग के आधार पर गतिमान हो सकते हैं। भारत इस क्षेत्र की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है। SAARC के अन्य देशों को भारत के साथ सकारात्मक सहयोग करना चाहिए जिससे दक्षिण एशिया में आत्मनिर्भरता के युग की शुरुआत हो सके।

आज SAARC के सदस्य देश आपसी सहयोग द्वारा तथा उप-क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा राजनीतिक विवादों से ऊपर उठकर आर्थिक विकास का मार्ग तैयार कर सकते हैं। इसके लिए सार्क देशों को SAFTA की तरफ मुड़ जाना चाहिए। दक्षिण एशिया में मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित होने की प्रबल सम्भावनाएँ हैं। इससे दक्षिण एशिया में आर्थिक विकास का नया मार्ग प्रशस्त होगा। इससे विकसित देशों पर उनकी निर्भरता कम होगी और उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर विश्वीकरण के दुष्प्रभावों को भी कम करने में मदद मिलेगी। पाकिस्तान को यह बात अवश्य समझनी होगी की सार्क में भारत की बढ़ती सहभागिता से उसका तथा पाकिस्तान दोनों का फायदा होगा। इससे विकास को गति मिलेगी और राजनीतिक सद्भाव को प्रोत्साहन मिलेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत की बिग ब्रदर की भावना का पाकिस्तान द्वारा समुचित आदर किया जाए तो सार्क एक उपयोगी संस्था का रूप ले सकता है। आज पाकिस्तान द्वारा भारत पर जो प्रायोजित आतंकवाद थोपा जा रहा है, उससे सार्क पर भी बुरा असर पड़ सकता है। चीन के साथ पाकिस्तान के नए सम्बन्ध दक्षिण एशिया में बढ़ती आर्थिक व राजनीतिक सहयोग की प्रवृत्ति को खटाई में डाल सकते हैं।

यदि सार्क की भूमिका को सकारात्मक बनाना है तो आज भारत और पाकिस्तान को आपसी मतभेदों को दूर करने की सबसे प्रबल आवश्यकता है। सार्क को महाशक्तियों के हस्तक्षेप से मुक्त रखकर आपसी सहयोग के नए क्षेत्र तलाशने के साथ-साथ आज सार्क को आर्थिक मंच के साथ-साथ राजनीतिक मंच बनाने की भी जरूरत है। आज सार्क देशों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी सहयोग को बढ़ाने की प्रबल सम्भावनाएँ हैं। सभी SAARC देशों को इस दिशा में ठोस कदम अवश्य उठाने चाहिए। अपने सांझे अनुभवों व तकनीकी सहयोग के द्वारा SAARC देश सामूहिक आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन निकट भविष्य में ऐसी सम्भावना कम ही दिखाई देती है। अतः निष्कर्ष तौर पर यही कहा जा सकता है कि SAARC क्षेत्रीय सहयोग की कल्पना को जन्म देने में तो अवश्य सफल रहा है लेकिन सकारात्मक क्षेत्रवाद की उत्पत्ति से अभी काफी दूर है अर्थात् SAARC प्रभावशाली क्षेत्रीय सहयोग संगठन नहीं है।

11.8 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग की प्रक्रिया बड़ी देर से प्रारम्भ हुई। दक्षेस की स्थापना के बाद भी यह सहयोग बहुत सकारात्मक रूप से आगे नहीं बढ़ा। इस स्थिति के मूलतः दो बड़े सदस्यों – भारत व पाकिस्तान के बीच रिस्तों में टकराव रहा है। इसके अतिरिक्त दक्षेस के देश अपनी नकारात्मक विरासतों को भी भूलाने में असमर्थ रहे हैं। इन देशों के मध्य अत्यधिक भौगोलिक, जनसंख्या, आर्थिक विकास, सैन्य क्षमताएं आदि का विभेद भी कुछ हद तक उत्तरदायी रहा है। इन सभी के परिणाम स्वरूप इनके शिखर सम्मेलन समय पर नहीं हो सके तथा 2014 के बाद से तो आयोजित ही नहीं हो पाए। अतः दक्षिण एशिया में दक्षेस, कुछ सामान्य उपलब्धियों के बावजूद, बहुत सफल प्रधान नहीं रहा।

11.9 प्रश्नावली

1. दक्षिण एशिया में सहयोग विकसित करने हेतु दक्षेस (सार्क) की भूमिका का आंकलन कीजिए।
2. दक्षेस (सार्क) की उत्पत्ति एवं विकास का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. दक्षेस (सार्क) की सफलताओं एवं असफलताओं का वर्णन कीजिए।
4. दक्षिण एशिया को आर्थिक सहयोग में दक्षेस के रास्ते में आने वाले रूकावट वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

11.10 पाठन सामग्री,

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

दक्षिण पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संगठन (ऑशियान)

अध्याय का ढांचा

12.1 प्रस्तावना

12.1.1 अध्याय के उद्देश्य

12.2 ऑशियान की स्थापना

12.3 ऑशियान के उद्देश्य

12.4 ऑशियान की संरचना

12.4.1

12.4.2

12.4.3

12.5 ऑशियान के कार्य

12.6 ऑशियान के शिखर सम्मेलन

12.7 मूल्यांकन

12.8 सारांश

12.9 प्रश्नाली

12.10 पाठन सामग्री

12.1 प्रस्तावना

'दक्षिण-पूर्वी एशिया' शब्द का प्रयोग उन देशों के लिए किया जाता है जो हिन्द महासागर के पूर्व तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में आते हैं। 1945 से पूर्व यह शब्द अंतर्राष्ट्रीय संबंधों से गायब था। 1945 के बाद ही भारत के पूर्व तथा चीन के दक्षिण-पश्चिम में स्थित देशों म्यांमार, बरूनी, इंडोनेशिया, कम्पूचिया, लाओस, मलेशिया, फिलिपाइन, सिंगापुर, थाईलैंड तथा वियतनाम आदि देशों का क्षेत्र 'दक्षिण पूर्वी एशिया' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह क्षेत्र सामरिक तथा भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण साम्राज्यवादी देशों का उपनिवेश रहा और इसकी आर्थिक समृद्धि ने साम्राज्यवादी ताकतों को इस ओर आकर्षित किया। साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव ने 1945 के बाद पश्चिमी शक्तियों को नई चुनौती पेश की। इस क्षेत्र में पश्चिम द्वारा साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए 'इफाके' एवं 'ग्रेट ईस्ट एशियन को प्रोसपेरेटी स्फेयर' जैसे संगठनों को महत्व दिया गया। लेकिन इनसे इस क्षेत्र कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और 1954 में SEATO का गठन किया गया। सैनिक संगठन होने के कारण SEATO भी इस क्षेत्र के आर्थिक विकास की समस्याओं पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका। इस संगठन में पश्चिमी शक्तियों को भागेदारी से चिन्तित इस क्षेत्र के देशों ने आर्थिक विकास का भार स्वयं वहन करने की घोषणा के

परिणामस्वरूप 1959 में ही ASEAN के निर्माण का रास्ता साफ हो गया।

12.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य क्षेत्रीय सहयोग के एक महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त क्षेत्रीय संगठन ऑशियान के बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्रदान करना है। इस पाठ में ऑशियान की उत्पत्ति, उद्देश्य, संरचना एवं कार्यों का विस्तृत व्यौरा प्रस्तुत है। इस अध्याय में ऑशियान द्वारा आयोजित शिखर सम्मेलनों के बारे में भी अवगत कराया गया है। इन सभी विवरणों के आधार पर ऑशियान संगठन का मूल्यांकन किया गया है। अतः यह अध्याय दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों द्वारा क्षेत्रीय सहयोग की ऑशियान के माध्यम से की गई उन्नति का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है।

12.2 ऑशियान की स्थापना

वियतनाम में अमेरिकी हस्तक्षेप, कंबोडिया में राजनीतिक संकट, ब्रिटेन व फ्रांस की एशिया नीति में परिवर्तन तथा हिन्द-चीन क्षेत्र के देशों में आई राजनीतिक जागृति ने इस क्षेत्र में एक ऐसी शक्तिशाली आर्थिक संस्था स्थापित करने का रास्ता साफ किया जो इस क्षेत्र के पूर्ण आर्थिक विकास में योगदान दे सके। इनके परिणामस्वरूप 8 अगस्त, 1967 को ASEAN की स्थापना हेतु बैंकाक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए गए। प्रारम्भ में इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर तथा थाईलैण्ड ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। बाद में अन्य देशों ने भी इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली और सदस्यता का आंकड़ा 10 से ऊपर पहुंच गया। भारत, रूस व चीन को भी ASEAN में पूर्ण संवाद सहभाग बना लिया गया है। आज इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर, थाईलैण्ड, ब्रनेई, वियतनाम, लाओसण म्यांमार तथा कंबोडिया के ASEAN के दस प्रमुख सदस्य राष्ट्र हैं।

12.3 ऑशियान के उद्देश्य

ASEAN एक विशुद्ध असैनिक संगठन है। फिर भी बैंकाक घोषणापत्र में सभी सदस्य देशों को क्षेत्रीय शान्ति हेतु सहयोग करने की अपील की गई। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. क्षेत्रीय शान्ति व स्थिरता को प्रोत्साहित करना।
2. क्षेत्र में सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।
3. सांझे हितों में परस्पर सहायता व सहयोग की भावना को बढ़ाना।
4. शिक्षा, तकनीकी ज्ञान, वैज्ञानिक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देना।
5. क्षेत्र में अनुसंधान, प्रशिक्षण तथा अध्ययन को प्रोत्साहित करना।
6. समान उद्देश्यों वाले क्षेत्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ अधिक सहयोग करना।
7. कृषि व्यापार तथा उद्योग के विकास में सहयोग देना।

इस तरह ASEAN के निर्माण का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, वैज्ञानिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा प्रशासनिक सहयोग को बढ़ावा देना है।

12.4 ऑशियान की संरचना

ASEAN के प्रमुख अभिकरण निम्नलिखित हैं—

12.4.1 विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन

इसे परामर्श मंत्रालय के नाम से भी जाना जाता है। इसका सम्मेलन वर्ष में एक बार अवश्य आयोजित करने का

निर्णय इसी अभिकरण द्वारा लिया जाता है। इसमें सदस्य राज्यों के सभी विदेश मन्त्री शामिल होते हैं।

12.4.2 स्थायी समिति

विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के दौरान यह समिति विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करवाती है तथा क्षेत्रीय सहयोग में वृद्धि करने के आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करती है। इसमें मेजबान देश का विदेश मन्त्री तथा अन्य सदस्य देशों के राजदूत शामिल होते हैं।

12.4.3 सचिवालय

प्रशासनिक सहयोग के कार्यों को पूरा करने के लिए 1976 में ASEAN के संगठनात्मक स्वरूप में परिवर्तन करके सचिवालय नामक अभिकरण भी जोड़ दिया गया। इसका कार्यालय इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में है। इसका अध्यक्ष महासचिव होता है। इसकी नियुक्ति 2 वर्ष के लिए होती है। यह प्रशासनिक गतिविधियों पर अपना पूरा नियंत्रण रखता है। इसके अतिरिक्त सचिवालय में ब्यूरो निदेशक तथा अन्य कर्मचारी भी होते हैं। इन तीन अभिकरणों के अतिरिक्त ASEAN की नौ स्थाई तथा आठ अस्थाई समितियां भी हैं जो संगठन के विभिन्न कार्यों का निष्पादन करती हैं।

12.5 ऑशियान के कार्य

इसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। यह समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, व्यापारिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में कार्यरत है। आज दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक सामाजिक व आर्थिक समस्याएं हैं जिनको हल करने के लिए यह संगठन निरन्तर प्रयासरत है। ASEAN की स्थायी समिति ने जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, आर्थिक शोषण, असुरक्षा से सम्बन्धि अनेक नीतियां व कार्यक्रम बनाए हैं। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में मुक्त व्यापार क्षेत्र विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। व्यापार की उदार नीतियों को प्रोत्साहित करके इस दिशा में निरन्तर प्रयास जारी हैं। इसका उद्देश्य सांझा बाजार स्थापित करना है।
2. पर्यटन के क्षेत्र में सहयोग को बढ़ावा देने के लिए यह अपने एक सामूहिक संगठन 'आसियण्टा' के माध्यम से कार्य कर रहा है।
3. यह सदस्य देशों में सुरक्षा व शान्ति के लिए आणविक हथियारों पर रोक लगाने पर जोर दे रहा है।
4. यह संगठन दक्षिण-पूर्वी एशिया के आर्थिक विकास पर जोर दे रहा है।
5. यह सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए रेडियो तथा दूरदर्शन के माध्यम से सहयोग को बढ़ावा दे रहा है।
6. यह जनसंख्या नियंत्रण, शिक्षा का विकास, समाज कल्याण, दवाईयों पर नियंत्रण, खेल आदि के कार्यक्रमों को प्रोत्साहित कर रहा है।
7. कृषि को बढ़ावा देने के लिए यह तकनीकी शिक्षा का लाभ किसानों तक पहुंचाने के प्रयास कर रहा है।

इस प्रकार ASEAN सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी व प्रशासनिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए प्रयास कर रहा है। यह इस क्षेत्र में एक सांझा बाजार स्थापित करने की दिशा में प्रयासरत है।

12.6 ऑशियान के शिखर सम्मेलन

ASEAN के कार्यो व भूमिका का व्यापार मूल्यांकन उसके शिखर सम्मेलनों में लिए गए निर्णयों के आधार पर ही किया जा सकता है। इसके प्रमुख शिखर सम्मेलन निम्नलिखित हैं—

1. **प्रथम वाली शिखर सम्मेलन** — इस सम्मेलन में फरवरी, 1976 में पारस्परिक व्यापार को बढ़ावा देने की नीति पर जोर दिया गया। इसमें कम खाद्य एवं ऊर्जा वाले देशों की अधिक ऊर्जा शक्ति वाले देशों द्वारा सहायता करने का आश्वासन भी दिया गया। इस सम्मेलन में दो प्रमुख दस्तावेजों पर हस्ताक्षर हुए। प्रथम दस्तावेज द्वारा समस्त सदस्य देशों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता के प्रति आदर करने एक दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करने के प्रति आदर करने व पारस्परिक झगड़ों का हल शान्तिपूर्ण ढंग से पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति पर आधारित सिद्धान्तों के आधार पर हल करने पर जोर दिया गया। दूसरे दस्तावेज में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व तकनीकी सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया।
2. **दूसरा क्वालालम्पुर शिखर सम्मेलन** — अगस्त 1977 में आयोजित इस सम्मेलन में सदस्य देशों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता व स्थिरता का क्षेत्र विकसित करने पर जोर दिया। इस सम्मेलन में विकासशील देशों की विकसित देशों पर बढ़ती निर्भरता को चिन्ताजनक माना गया।
3. **तीसरा मनीला शिखर सम्मेलन** — 14 दिसम्बर, 1987 को आयोजित इस सम्मेलन में फिलीपीन्स में एक्विनो सरकार की स्थिरता, कम्बोडिया समस्या तथा आसियान ASEAN राष्ट्रों के दूसरे राष्ट्रों के साथ गठबन्धनों पर व्यापक विचार विमर्श किया गया। इस सम्मेलन में 'दक्षिण पूर्वी एशिया' क्षेत्र को परमाणु मुक्त क्षेत्र विकसित करने, पर जोर दिया गया। इसमें वरीयता व्यापार समझौते की अनुपालना करने व आसियान क्षेत्र को एक आर्थिक शक्ति के रूप में विकसित करने दिया गया।
4. **चौथा सिंगापुर शिखर सम्मेलन** — इस सम्मेलन में (1992) नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था NEIO की मांग दोहराई गई। इसमें एशियान को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने व शान्ति क्षेत्र घोषित करने पर भी जोर दिया गया।
5. **पांचवां बैंकाक शिखर सम्मेलन** — दिसम्बर, 1995 में आयोजित इस सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशिया को 2003 तक मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने पर निर्णय किया गया। इसमें बौद्धिक सम्पदा सम्बन्धी एक समझौता भी हुआ। इसके अतिरिक्त आसियान क्षेत्र को नाभिकीय शस्त्र विहीन क्षेत्र बनाने पर भी एक समझौता हुआ।
6. **छठा हनोई शिखर सम्मेलन** — दिसम्बर 1998 में हनोई (वियतनाम) में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में 2003 से पहले ही इस क्षेत्र को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने पर निर्णय लिया गया। हनोई कार्य योजना के तहत क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण, व्यापार उदारीकरण तथा वित्तीय सहयोग में वृद्धि करने के उपाय भी निर्धारित किए गए।
7. **सातवां सेरी बेगावन शिखर सम्मेलन** — नवम्बर, 2001 में आयोजित बादर सेरी बेगावन (ब्रुनेई) सम्मेलन में भारत को आसियान का पूर्ण संवाद सहभागी बनाने पर सहमति हुई। इसमें रूस व चीन को भी संवाद सहभागी बनाने पर सहमति प्रकट की गई।
8. **8वें से 39वें शिखर सम्मेलन तक** — सन् 2001 के बाद भी 2005 तक बहारवें सम्मेलन तक प्रत्येक वर्ष ऑशियान के किसी देश द्वारा आयोजित किया गया। सन् 2007 के बारहवें सम्मेलन के बाद सन् 2019 तक प्रत्येक वर्ष में दो सम्मेलनों का आयोजन किया गया। सिर्फ सन् 2008 में कोई सम्मेलन नहीं हो सका। ऑशियान देश का 35वाँ व अन्तिम सम्मेलन थाईलैंड की राजधानी बैंकाक में 1-4 नवम्बर 2019 में आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में मुल रूप से बाहुल्यवादी व्यवस्था एवं राज्यों के मध्य संचार (कनेक्टिविटी)

पर जोड़ दिया गया। ऑशियान देशों द्वारा 36वाँ सम्मेलन 6 अप्रैल 2020 में दौनांग शहर में, 37वाँ सम्मेलन 11 नवम्बर 2020 हनोई शहर में, 38वाँ सम्मेलन, अप्रैल/मई 2021 में बन्दर सिटी शहर में, तथा 39वाँ सम्मेलन अक्टूबर/नवम्बर 2021 में तय किया गया है।

12.7 मूल्यांकन

राजनीतिक विद्वानों का मानना है कि वियतनाम युद्ध के बाद आसियान ASEAN निरंतर प्रगति के पथ पर है। 1976 के बाली शिखर सम्मेलन ने क्षेत्रीय सहयोग के जो नए आयाम स्थापित किए थे। उन्हें प्राप्त करने के लिए आज आसियान के सदस्य राष्ट्र निरन्तर प्रयास कर रहे हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने के प्रयास अन्तिम सीमा पर हैं। ASEAN एक ऐसी क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में विकसित हो रहा है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व तकनीकी सहयोग के नए आयाम स्थापित करेगा।

लेकिन आज 'ASEAN' के सामने अनेक चुनौतियां हैं चीन की सामरिक शक्ति में वृद्धि से इसकी सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। अमेरिका तथा जापान से भी ASEAN की सुरक्षा व्यवस्था को चुनौती मिल रही है। आज ASEAN राष्ट्रों के पास आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक पिछड़ेपन का ही मूल मंत्र है। पर्याप्त पूंजी व क्रम शक्ति के अभाव के कारण आर्थिक सहयोग की गति बहुत मन्द है। इन देशों में आपसी मतभेद भी हैं। इन देशों की विकसित देशों पर निर्भरता निरन्तर बढ़ रही है। इन देशों में पश्चिमी ताकतों के सैनिक अड्डे भी मौजूद हैं। दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में बार-बार पैदा होने वाले मुद्रा संकट इसकी कार्यप्रणाली पर बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। यदि ASEAN के देश विकसित देशों पर अपनी आर्थिक निर्भरता में कमी करें और आपसी सहयोग की प्रवृत्ति का विकास करें तो दक्षिण पूर्वी एशियाई क्षेत्र में नए आर्थिक सम्बन्धों के अध्याय की शुरुआत होगी और ASEAN एक मजबूर क्षेत्रीय आर्थिक संगठन के रूप में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करने के योग्य होगा।

12.8 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों का यह क्षेत्रीय संगठन एक सफलता उदाहरण है। ऑशियान में जहां शीतयुद्ध के दौरान केवल पाँच देश की सम्मिलित थे। वहीं शीतयुद्धोत्तर युग में सम्पूर्ण क्षेत्र के देश (अर्थात् 10) इसके सदस्य बन गए। इसके अतिरिक्त विश्व की प्रमुख शक्तियाँ भी इसके वार्ताकार देश बन गए। शीतयुद्धोत्तर युग में विकास व अर्थव्यवस्था का ऑशियान केन्द्र बिन्दु बन गया है। इसके निरन्तर आयोजित सम्मेलनों द्वारा आज यह क्षेत्र मुक्तव्यापार के माध्यम से एक बड़ा आर्थिक जोन बन गया है। भारत भी शीतकाल के बाद ऑशियान के आर्थिक एक सामरिक साझेदार बन गया है। यह अपनी 'लूक ईस्ट' व 'एक्ट ईस्ट' की नीतियों के द्वारा इन देशों से मधुर सम्बन्ध बना चुका है। वर्तमान बदली हुई विश्व आर्थिक व्यवस्था में ऑशियान का एक प्रमुख स्थान है।

12.9 प्रश्नावली

1. क्षेत्रीय सहयोग संगठन के रूप में ऑशियान का मूल्यांकन कीजिए।
2. ऑशियान की स्थापना, उद्देश्यों एवं भूमिका का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. शीतयुद्धोत्तर युग में ऑशियान के योगदान पर टिप्पणी कीजिए।
4. भारत की 'लूक ईस्ट' व 'एक्ट ईस्ट' नीतियों के अन्तर्गत भारत-ऑशियान संबंधों का वर्णन कीजिए।

12.10 पाठन सामग्री,

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रुसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

एशिया प्रशान्त आर्थिक सहयोग (एपेक)

अध्याय का ढांचा

13.1 प्रस्तावना

13.1.1 अध्याय के उद्देश्य

13.2 एपेक का गठन

13.3 एपेक के उद्देश्य

13.4 एपेक के सम्मेलन

13.5 मूल्यांकन

13.6 सारांश

13.7 प्रश्नावली

13.8 पाठन सामग्री

13.1 प्रस्तावना

APEC विश्व में मुक्त व्यापार का सबसे प्रबल समर्थक संगठन है। यह संगठन एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागरीय तटीय देशों में व्यापारिक गतिविधियों को सरल व सुगम बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अन्य क्षेत्रीय संगठनों की तरह यह भी एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागरीय तटीय क्षेत्रों में मुक्त व्यापार व्यवस्था द्वारा क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। APEC एक प्रादेशिक व्यवस्था होने के बावजूद भी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के खिलाफ नहीं है। 1997 के वेंकूवर बैठक में APEC ने अपने सदस्य देशों से कहा कि वे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में भी अप्रत्यक्ष भूमिका है।

13.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में होने वाले आर्थिक सहयोग की जानकारी प्रदान करना है। यह कार्य इस क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण संस्था-एशिया-प्रशान्त आर्थिक सहयोग (एपेक)-की विस्तृत जानकारी के माध्यम से दी गई है। एपेक संस्था की उत्पत्ति, सदस्यता, उद्देश्यों पर विभिन्न शिखर सम्मेलनों आदि में विचार किए गए मुद्दों के आधार पर दी गई है। इसके मूल्यांकन से यह भी स्पष्ट हुआ है कि एशिया-प्रशान्त क्षेत्र की राजनीति में एपेक की महत्वपूर्ण भूमिका है।

13.2 एपेक का गठन

APEC ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री बॉब हॉक की सोच का परिणाम हैं। इसकी स्थापना 1989 में हुई। इसमें प्रारम्भ में 12 देश शामिल हुए जो हैं - ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, जापान, दक्षिण कोरिया, कनाडा, मलेशिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया, थाईलैंड, सिंगापुर, फिलिपीन्स, ब्रुनेई तथा इंडोनेशिया। 1991 में 2 वर्ष पश्चात APEC में चीन, ताईवान तथा हांगकांग शामिल हो गए। 1993 में पापुआ न्यूगयाना तथा मैक्सिको ने इसकी सदस्यता ग्रहण की। 1994 में चिली

भी इसका सदस्य बन गया और इसकी सदस्य संख्या 19 तक पहुंच गई। बाद में पीरू व रूस की सदस्यता के बाद यह 21 हो गई है।

13.3 एपेक के उद्देश्य

इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. सदस्य राज्यों में आपसी आर्थिक सहयोग तथा व्यापार बढ़ाना।
2. एशिया प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र को मुक्त आर्थिक क्षेत्र के रूप में विकसित करना।
3. सदस्य देशों में निवेश प्रवाह में वृद्धि करना तथा निवेश संरक्षण को मजबूत बनाना।
4. आर्थिक विकास के लिए निजी क्षेत्र का सहयोग प्राप्त करना।
5. अपने वांछित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए सदस्य देशों को एक मंच पर लाना तथा उनमें एकता की भावना का विकास करना।

13.4 एपेक के सम्मेलन

APEC के सम्मेलन व उसमें लिए गए निर्णय निम्नलिखित हैं—

1. प्रथम शिखर सम्मेलन

APEC का प्रथम शिखर सम्मेलन नवम्बर, 1993 में अमेरिका के सिएटल शहर में हुआ। इसमें सदस्य देशों को आपसी आर्थिक सहयोग को बढ़ाने पर जोर दिया गया और एशिया प्रशान्त महासागरीय तटीय क्षेत्र को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने पर जोर दिया गया।

2. द्वितीय शिखर सम्मेलन

APEC का दूसरा शिखर सम्मेलन 1994 में बोगोर (इंडोनेशिया) में हुआ। इस सम्मेलन में मुक्त व्यापार एवं निवेश का मुद्दा ही प्रमुख रहा। सदस्य देशों ने इस दिशा में कार्य करने के लिए सर्वसम्मति से निर्णय लिया। अधिक विकसित देशों को इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए 2010 तथा शेष को 2020 तक का समय दिया गया।

3. तीसरा शिखर सम्मेलन

इसका तीसरा शिखर सम्मेलन 1995 में इसाका में हुआ। इसमें आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए संकल्पवाद लचीलेपन तथा सर्वसम्मत चिंतन के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के लिए एक कार्ययोजना का प्रारूप तैयार किया गया। इस कार्य योजना को सर्वत्र सराहा गया।

4. विदेशी मन्त्रियों का सम्मेलन

APEC के वाणिज्य तथा विदेश मन्त्रियों का वार्षिक सम्मेलन नवम्बर 1996 में सूबिक खाडक तथा मनीला में आयोजित हुआ। इसमें सूचना प्रौद्योगिकी (तकनीक) के बाजार को उदार बनाने पर सहमति हो गई तथा मुक्त व्यापार क्षेत्र के विकसित होने से रोकने वाले सभी प्रतिरोधों को समाप्त करने के लिए पकार्ययोजना के नाम से अनुमोदित कार्य योजना के अंतर्गत विकसित अर्थव्यवस्था के लिए 2010 तक तथा अविकसित या विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के लिए 2020 तक मुक्त व खुले व्यापार तथा निवेश के प्रावधानों को कार्यरूप देने पर सहमति हुई। सम सम्मेलन में WTO की दिसम्बर, 1996 में होने वाली बैठक में सूचना तकनीक के समझौते को पूरा करने पर भी निर्णय लिया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने 2000 तक सीमा

शुल्क शून्य करने पर जोर दिया, लेकिन मलेशिया तथा अन्य विकासशील देशों ने इसका विरोध किया। विकासशील देशों ने कहा कि इससे उन देशों को हानि पहुंचेगी, जो अपनी तकनीक तथा उद्योगों को विकसित करने तथा मार्केट में अपना उचित स्थान बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इसने चीन तथा ताईवान को WTO में प्रवेश देने के मुद्दे पर विचार किया गया। सम्मेलन के अन्त में जारी घोषणापत्र में इनको सदस्यता देने से सभी ने मना कर दिया। लेकिन इस सम्मेलन में ASEAN के एकमात्र सदस्य 'वियतनाम' जो अब तक APEC की सदस्यता से वंचित था को भी सदस्यता प्रदान करने का निर्णय लिया गया और रूस को भी इसमें शामिल करने पर सहमति हो गई। इसमें सदस्य देशों से आह्वान किया गया कि वे APEC में आर्थिक सहयोग एवं विकास के सिद्धान्तों के आधार पर स्थिर विकास के लिए कार्य करें। इस सम्मेलन में APEC में आर्थिक सहयोग व विकास में वृद्धि करने के लिए निजी क्षेत्र को भी शामिल करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

5. वैंकूवर बैठक

APEC के वाणिज्य व विदेश मन्त्रियों की एक बैठक सन् 1997 में हुई। इस बैठक में स्थिर विकास के लिए मन्त्रियों में रिपोर्ट मांगी गई जो 1996 की मनीला बैठक में सुनिश्चित की गई थी। इस बैठक में मन्त्रियों को कहा गया कि वे व्यापारी वर्ग गतिविधियों को आसान बनाने के लिए उनके साथ मिलकर कार्य करें व उन्हें हर तरह की सम्भव सहायता दें। इस बैठक में व्यापार क्षेत्र को विकसित करने के लिए APEC व्यापार परिषद की सिफारिशें लागू करने के साधनों की समीक्षा करने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। इसमें निवेश के प्रवाह तथा संरक्षण की आवश्यकता पर बल देने के साथ-साथ आधारभूत कार्य योजना में निजी क्षेत्र को भी शामिल करने की बात कही गई। इस तरह यह बैठक अधिक उदारीकरण के साथ आर्थिक सहयोग व व्यापार में वृद्धि को लेकर सम्पन्न हुई।

6. शंघाई सम्मेलन

APEC देशों का नई सदी का प्रथम शिखर सम्मेलन 19 से 21 अक्टूबर 2001 तक शंघाई (चीन) में हुआ। इसमें सदस्य देशों द्वारा आपसी आर्थिक सहयोग तथा व्यापार बढ़ाने के मुद्दे पर खुली बातचीत हुई और APEC को खुला आर्थिक क्षेत्र बनाए जाने के उद्देश्य को दोहराया गया। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी रूकावट माना गया और इसे एकजुट होकर समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इस सम्मेलन में प्रथम बार एक राजनीतिक घोषणा पत्र जारी किया गया जिसमें अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का मुद्दा प्रमुख था।

7. इसके उपरान्त 2001 से 2018 तक 17 अन्य सम्मेलन प्रतिवर्ष एपेक के एक देश में आयोजित हुए। 2019 की 31वां सम्मेलन स्थगित हो गया। 2020 का 32वां सम्मेलन नवम्बर में मलेशिया में प्रस्तावित है। आगे के तीन सम्मेलन 33वां (2021), 34वां (2022), व 35वां (2023) क्रमशः न्यूजीलैंड, थाईलैंड एवं दक्षिण कोरिया में प्रस्तावित है।

13.5 मूल्यांकन

1989 से लेकर आज तक APEC निरंतर विकास के मार्ग पर है। यह सदस्य देशों में आपसी आर्थिक सहयोग बढ़ाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह एशिया प्रशान्त महासागरीय तटीय देशों में मुक्त व्यापार क्षेत्र विकसित करने के लिए निरन्तर प्रयासरत है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसके सदस्य देशों में अधिक सहयोग की भावना नहीं है। चीन अधिक उदारीकरण का विरोध करता रहा है। WTO में चीन व ताईवान की सदस्यता को लेकर APEC के देश आपसी फूट का शिकार हैं। अमेरिका अपनी दादागिरी कायम करने के उद्देश्य से निरन्तर

APEC के लक्ष्यों को प्राप्त करने के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करता रहता है। अमेरिका सचीमा भूतकों को शून्य करने पर जोर देता रहा है, लेकिन कम विकसित देश इसका विरोध करते आ रहे हैं। चीन व ताईवान WTO में शामिल होने से आना-कानी करते आ रहे हैं। वे अपने बाजारों को सदस्य देशों के लिए पूरी तरह खोलने को तैयार नहीं हैं। उनको खतरा है कि इससे उनको लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। चीन के WTO में शामिल होने सम्बन्धी प्रस्तावों से अमेरिका व उसके पिछलग्गू देश सन्तुष्ट नहीं है। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के बारे में भी नीति भेदभावपूर्ण है। इस तरह APEC के देशों में जो आपसी मतभेद हैं, उनके चलते एशिया प्रशान्त महासागर के तटीय क्षेत्रों को मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाना कठिन काम है। इसे मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने के लिए APEC के सदस्य देशों को आपसी मतभेद भुलाकर इस दिशा में कुछ सकारात्मक व ठोस कदम उठाने होंगे। इसी से APEC एक शक्तिशाली संगठन के रूप में उभरेगा और इस क्षेत्र में आर्थिक सम्बन्धों का नया अध्याय शुरू होगा।

13.6 सारांश

उपरोक्त अध्ययन यह स्पष्ट है कि एपेक एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में सहयोग विकसित करने हेतु एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें विश्व की महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ-साथ वहां के स्थानियों राज्यों को भी सदस्यता प्रदान की गई है। इसके विभिन्न आर्थिक व शिखर सम्मेलनों में विचार विमर्श से इसे दुनिया का बड़ा व्यापार क्षेत्र बनाने के प्रयास हैं। इसमें आपसी सहयोग के साथ-साथ मुक्त बाजार व्यवस्था को भी बढ़ावा दिया गया है। वर्तमान में भारत को इसकी सदस्यता प्रदान न कर एपेक एक बड़ी भूल कर रहा है, क्योंकि आज भारत की अर्थव्यवस्था ऑशियान के माध्यम से काफी हद तक जुड़ी हुई है। यह एपेक के लिए एक अच्छी स्थिति उत्पन्न करती है।

13.7 प्रश्नावली

1. एपेक को क्षेत्रीय सहयोग में भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के बढ़ते आर्थिक सहयोग की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. स्मकालीन विश्व राजनीति में एपेक के सहयोग का वर्णन कीजिए
4. क्या भारत की एशिया-प्रशान्त में भूमिका को देखते हुए इसे एपेक की सदस्यता प्रदान करनी चाहिए? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।

13.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्यूयार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्टस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अमेरिकी राज्यों का संगठन (ओ.ए.एस)

अध्याय का ढांचा

14.1 प्रस्तावना

14.1.1 अध्याय के उद्देश्य

14.2 ओ.ए.एस. की सदस्यता

14.3 ओ.ए.एस. के उद्देश्य

14.4 ओ.ए.एस. की संरचना

14.4.1 अन्तर अमेरिकी सभा

14.4.2 विदेश मन्त्रियों की परामर्श समिति

14.4.3 परिषद

14.4.4 अमेरिकी भ्रातृत्व संघ

14.4.5 विशिष्ट अभिकरण

14.5 ओ.ए.एस. सम्बन्धित घोषणा पत्र

14.5.1 ओ.ए.एस. तथा ब्यूनस आयर्स सन्धि

14.5.2 ओ.ए.एस. तथा उरुग्वे घोषणापत्र

14.6 मूल्यांकन

14.7 सारांश

14.8 प्रश्नावली

14.9 पाठन सामग्री

14.1 प्रस्तावना

1823 के मुनरो सिद्धान्त ने ही अन्तर अमेरिका क्षेत्रवाद के बीज बो दिए थे। इससे प्रभावित होकर ही अमेरिकी राज्यों ने विश्व में अपनी पहचान स्थापित करने के लिए पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया और अमेरिकी राज्यों को संगठित करने के लिए पनामा में 1826 में एक अमेरिकी राज्यों का सम्मेलन बुलाया गया। इसके बाद इसको मजबूती प्रदान करने के लिए 1890 में अन्तर अमेरिकी कांफ्रेंस हुई। अमेरिकी राज्यों को संगठित करने का सर्वाधिक ठोस प्रयास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शुरू आया। समान प्रतिरक्षा, खनिज पदार्थों के आदान-प्रदान, वित्तीय और सांस्कृतिक सहयोग की आवश्यकता को समस्त अमेरिकी राज्यों ने अनुभव करके 1948 में बोगोटा सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने 'अमेरिकी राज्यों का संगठन' (OAS) की नींव डाली। आज OAS एक विस्तृत व

सुदृढ़ क्षेत्रीय व्यवस्था है जो अब अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय एवं महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार समस्त अमेरिका महाद्वीप में फैला हुआ। इसका अपना चार्टर है। इसमें 18 अध्याय व 112 धाराएं हैं। इसको धारा 1 के अंतर्गत एक प्रादेशिक अभिकरण बताया गया है।

14.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य अमेरिकी महाद्वीप में एक महत्वपूर्ण क्षेत्रीय सहयोग के संगठन – औरगनाईजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स (ओ.ए.एस.) – के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान करना है। इस अध्याय में ओ.ए.एस. के गठन, आवश्यकताओं, सदस्यता, संरचना एवं कार्यशैली का विस्तार से वर्णन किया गया। इसके साथ इन राष्ट्रों में होने वाले समझौतों एवं घोषणाओं का भी आंकलन किया गया है ताकि इनके बीच आपसी सहयोग को जाना जा सके। यहां इन राष्ट्रों की गतिविधियों का मूल्यांकन कर आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सहयोग के बिन्दुओं का पता लगाया जा सके।

14.2 ओ.ए.एस की सदस्यता

OAS में अधिकतर अमेरिकी राज्यों ने सदस्यता ग्रहण की है। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या 21 थी जो अब लगभग 25 है। कनाडा व बोलीविया को इसकी सदस्यता से निकाल दिया गया है। सभी अमेरिकी राज्य इसकी सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं व छोड़ सकते हैं। लेकिन सदस्यता छोड़ने से पूर्व दो वर्ष का नोटिस देना आवश्यकता होता है। इसकी सदस्यता समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें प्रत्येक राज्य को एक-एक मत ही देने का अधिकार प्राप्त है।

14.3 ओ.ए.एस. के उद्देश्य

इस संगठन के चार्टर में इसके उद्देश्यों पर पूरा प्रकाश डाला गया है। और इनकी प्राप्ति के लिए राज्यों को अपनी नीतियों में तालमेल बैठाने का निर्देश दिया गया है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. शान्ति व न्याय पर आधारित व्यवस्था को स्थापित करना।
2. अमेरिकी राज्यों की एकता व स्थिरता को प्रोत्साहित करना।
3. सदस्य राज्यों के मध्य आदान-प्रदान में वृद्धि करना।
4. सदस्य राज्यों की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखण्डता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

14.4 ओ.ए.एस. की संरचना

OAS के कुछ प्रधान अंग हैं जिनकी सहायता से यह अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता है। ये प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं—

14.4.1 अन्तर अमेरिकी सभा

यह OAS का प्रमुख अंग है। इसे OAS की महासभा भी कहा जाता है। इसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसकी बैठक प्रत्येक पांच वर्ष बाद होती है। स्थान का निर्धारण आपसी सहमति पर आधारित होता है। इसका प्रमुख कार्य संगठन की नीतियां व कार्यक्रम का निर्धारण करना है। इसके निर्णय बहुमत पर आधारित होते हैं। यह निर्णयों में सर्वसम्मति के सिद्धान्त का पूरा पालन करने का प्रयास करती है। इसे OAS की सर्वोच्च संस्था माना जाता है।

14.4.2 विदेश मन्त्रियों की परामर्श समिति

इसका कार्य तत्कालिक कार्यों या महत्वपूर्ण कार्यों पर विचार करने के लिए बैठक बुलाना है। इसमें समान हित के मुद्दों पर विचार किया जाता है। यह निरोधक शक्ति से परिपूर्ण संस्था है जो अपने सदस्य राज्यों को विशेष मामलों में आदेश दे सकती हैं इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी है।

14.4.3 परिषद

इसमें सभी सदस्य राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। यह संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यों की देखभाल के साथ-साथ शान्ति तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्य भी करती है। इसकी स्थिति सुरक्षा परिषद जैसी है। इसका सत्र निरन्तर चलता रहता है। यह संगठन की प्रमुख तालमेल स्थापित करने वाली संस्था है। यद्यपि यह OAS के पहले दोनों अंगों के अधीन है लेकिन इसकी भूमिका अति प्रभावशाली है। यह अमेरिकी भ्रातृत्व संघ तथा अपनी सहायक परिषदों की कार्यप्रणाली पर भी नियंत्रण रखती है। आर्थिक व सामाजिक परिषद तथा शिक्षा व विज्ञान परिषद इसकी सहायक परिषद हैं। इनके कार्यों पर OAS परिषद पूरा नियंत्रण रहता है। यह परिषद समाज सदस्यता व समान मताधिकार के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती है और इसका कार्यालय वाशिंगटन में है।

14.4.4 अमेरिकी भ्रातृत्व संघ

यह OAS की केन्द्रीय व स्थायी संस्था तथा सचिवालय है। यह संगठन के समस्त कर्मचारियों का समूह है। इसका प्रमुख महासचिव होता है जो अन्तर-अमेरिकी कान्फ्रेंस (महासभा) द्वारा चुना जाता है। इसकी अवधि 10 वर्ष होती है। इसका कार्यालय वाशिंगटन में है।

14.4.5 विशिष्ट अभिकरण

ये अभिकरण विशेषतापूर्वक कार्यों का निष्पादन करते हैं। इनका कार्यक्षेत्र विषय विशेष तक ही सीमित होता है। परामर्शदात्री सुरक्षा समिति, अन्तर-अमेरिकी आर्थिक और सामाजिक परिषद, अन्तर-अमेरिकी न्यायिक परिषद, अन्तर-अमेरिकी सांस्कृतिक परिषद, अन्तर-अमेरिकी कृषि विज्ञान परिषद, अन्तर-अमेरिकी बाल संस्था, अन्तर अमेरिकी मानवाधिकार आयोग, अन्तर-अमेरिकी स्त्री आयोग आदि OAS के सहायक व विशिष्ट अभिकरण हैं।

14.5 ओ.ए.एस. सम्बन्धित घोषणा पत्र

14.5.1 ओ.ए.एस. तथा ब्यूनस आयर्स सन्धि

OAS की स्थापना के समय इसके घोषणा पत्र में अनुमोदित प्रावधान कालान्तर में अपर्याप्त व अव्यावहारिक प्रतीत होने लगे। इन प्रावधानों को अधिक सुस्पष्ट व व्यापक बनाने हेतु 1967 में अर्जेन्टाइना की राजधानी यूनस आयर्स में OAS का सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में उत्तर-अमेरिकी सहयोग के नए आयाम (मानदण्ड) स्थापित किए गए और OAS के संगठनात्मक स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन किए गए। 27 फरवरी, 1967 को सभी सदस्य राज्यों द्वारा इसे सर्वसम्मति से अनुमोदित करके एक सन्धि का रूप दे दिया गया। यह सन्धि 1967 से ही प्रभावी है।

14.5.2 ओ.ए.एस. तथा उरुग्वे घोषणापत्र

दक्षिणी अमेरिकी के देश उरुग्वे में 14 अप्रैल, 1967 को अमेरिकी राष्ट्रपतियों का सम्मेलन हुआ जिसके घोषणा पत्र ने OAS को को अनेक नए उत्तरदायित्व सौंपे। इसमें दक्षिणी अमेरिकी आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहन देना, ग्रामीण जनता की जीवन दशा सुधारना, कृषि उत्पादन में वृद्धि करना, तकनीकी विकास एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में नए कार्यक्रम क्रियान्वित करना शामिल है। इससे OAS का क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक हुआ है।

14.6 ओ.ए.एस. का मूल्यांकन

यद्यपि OAS एक प्रभावशाली संस्था है जिसे UNO का विश्वास प्राप्त है। परन्तु राजनीतिक विवादों के बारे में इसे आंशिक सफलताएं ही मिली हैं। अमेरिका की दादागिरी की नीति ने इस संगठन को सर्वाधिक हानि पहुंचाई है। क्यूबा तथा ग्रेनाडा जैसे देश अमेरिका की इस नीति का शिकार हुए हैं। ग्वाटेमाला की शिकायत पर यह निकारागुआ के खिलाफ कोई ठोस निर्णय लेने में असक्षम रहा है। हैती की समस्या का भी हल करने में यह संगठन प्रायः नाकाम ही रहा है। इसलिए अनेक विचारकों ने इसकी राजनीतिक उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। लेकिन उनका यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं है। आज इसके सदस्य राज्यों की जनसंख्या 50 करोड़ है जो अमेरिकी महाद्वीप के बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करना था जिस पर यह आज भी कायम है। आज यह अन्तर अमेरिकी आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग में वृद्धि करने के लिए कृतसंकल्प है। यह अपने सदस्य राज्यों में आर्थिक सहयोग के सेतु के रूप में कार्य करता है। आर्थिक सहयोग के साथ-साथ यह राजनीतिक सहयोग में भी वृद्धि कर रहा है। आज इसके सदस्य राज्य सामूहिक रूप से किसी भी बाहरी आक्रमण का सामना करने के लिए एकजुट हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि OAS एक मजबूत क्षेत्रीय संगठन है।

14.7 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह संगठन अमेरिका द्वारा अपने महाद्विपय राज्यों के मध्य एकता के साथ-साथ साम्यवाद से विरोध स्वरूप गठित किया गया। इस दृष्टिकोण से यह संगठन काफी हद तक सफल भी रहें। कुछ अपवाद स्वरूप सभी अमेरिकी महाद्वीप के देश इसके सदस्य बने। क्यूबा की स्थिति शीतयुद्ध में अवश्य विरोधात्मक थी, इसीलिए सदस्यता भी नहीं दी गई। वर्तमान में क्यूबा को सदस्यता की प्रार्थना की गई लेकिन उसी ने इसे लेने से इन्कार कर दिया। परन्तु कुल मिलाकर ऑशियान के बाद यह क्षेत्रीय सहयोग का सफल संगठन है।

14.8 प्रश्नावली

1. अमेरिकी महाद्वीप से क्षेत्रीय सहयोग के संगठन का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. ओ.ए.एस. की स्थापना, उद्देश्य व कार्यशैली का विस्तार से वर्णन करें।
3. ओ.ए.एस. की स्थापना से आज तक आपसी सहयोग के बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए।
4. शीतयुद्धोत्तर युग में ओ.ए.एस. की प्रासांगिकता का विस्तार से वर्णन कीजिए।

14.9 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थ्याऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेप्ट्स, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

शस्त्र नियंत्रण एवं निःशस्त्रीकरण

अध्याय का ढांचा

15.1 प्रस्तावना

15.1.1 अध्याय के उद्देश्य

15.2 शस्त्र नियंत्रण एवं निःशस्त्रीकरण से अभिप्राय

15.3 निःशस्त्रीकरण के प्रकार

15.3.1 सामान्य एवं स्थानीय निःशस्त्रीकरण

15.3.2 मात्रात्मक एवं गुणात्मक निःशस्त्रीकरण

15.3.3 पारस्परिक तथा आणविक निःशस्त्रीकरण

15.3.4 पूर्ण एवं आंशिक निःशस्त्रीकरण

15.3.5 अनिवार्य और ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण

15.4 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण क्यों?

15.4.1 निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करता है

15.4.2 निःशस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग विकसित होता है

15.4.3 निःशस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना में कमी आती है

15.4.4 निःशस्त्रीकरण जन-कल्याण का मार्ग है

15.4.5 शस्त्रीकरण से विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो सकता

15.4.6 शस्त्रीकरण सर्वनाम का दूत है

15.4.7 शस्त्रीकरण से अवांछित हस्तक्षेप को बढ़ावा मिलता है

15.4.8 शस्त्रीकरण नैतिकता के विपरीत है

15.5 निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण हेतु किए गए प्रयास

15.5.1 प्रथम विश्व युद्ध से पहले

15.5.2 प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक

15.5.3 द्वितीय विश्व युद्ध से शीत-युद्ध के अन्त तक

15.5.4 शीतयुद्ध के अंत से वर्तमान समय तक

15.6 सारांश

15.7 प्रश्नावली

15.8 पाठन सामग्री

15.1 प्रस्तावना

मनुष्य ही मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है। संघर्ष व युद्ध मानव स्वभाव का आवश्यक अंग है। लेकिन जब इनका कोई ठोस आधार नहीं हो तो ये मानवता के विनाश के कारण बनते हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले पक्ष की तो जीत होती है लेकिन सम्पूर्ण मानवता की हार होती है। मानव सभ्यता का इतिहास युद्धों का इतिहास है। मनुष्य शक्ति व सत्ता प्राप्ति के लिए सदैव युद्धों का सहारा लेता रहा है। दो विश्व युद्धों के पीछे भी यही मूल कारण था। पाषाण युग से आधुनिक युग तक की मनुष्य की विकास यात्रा में अनेक युद्धों का अस्तित्व रहा है। युद्धों ने शान्ति के विचार को कमजोर किया है। मनुष्य के स्वभाव में शान्ति का विचार भी उतना ही प्रबल है जितना युद्ध का। हीगल जैसे जर्मन आदर्शवादियों ने तथा अन्य अन्ध राष्ट्रवादियों ने सदैव युद्ध में ही विश्वास किया है लेकिन प्रबद्ध राष्ट्रवाद में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों या देशों ने शान्ति के विचार को युद्ध के विचार से ज्यादा महत्व दिया है। युद्ध का सहारा लेने वाले राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए इसका बार-बार दुरुपयोग करते आए हैं। युद्ध प्रिय राष्ट्र शस्त्रों के निर्माण व भण्डारण को प्राथमिकता देते हैं। आज जिस गति से शस्त्रों का निर्माण हो रहा है उससे मानवता को भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद तो शस्त्र निर्माता देशों ने अपने-अपने देशों में शस्त्र बाजारों का मजबूती से विकास किया है ताकि कमजोर से कमजोर देश भी शस्त्र खरीद सकें। आज अनेक देशों के पास परमाणु आयुध हैं। जो सम्पूर्ण विनाश के सूचक हैं। आज हम परमाणु युग में जी रहे हैं। आज चारों दिशाओं में आतंक का ही संतुलन है। आणविक शस्त्रों के आगे न कोई देश कमजोर है और न शक्तिशाली। दो विश्व युद्धों ने मानव को युद्ध की विभिषिका से बचाने के लिए सोचने को विवश कर दिया है। इन युद्धों के पीछे शस्त्र होड़ ही प्रमुख कारण थी। आज बुद्धिजीवी वर्ग ने शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण के द्वारा विश्व शांति के विचार को सुदृढ़ बनाने की दिशा में प्रयास करने के लिए प्रेरित किया है। तीसरे विश्व युद्ध के खतरे से बचने के लिए शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण के सिवाय हमारे सामने कोई विकल्प नहीं है।

15.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य शस्त्र नियंत्रण एवं निःशस्त्रीकरण का विस्तार पूर्वक वर्णन करना है। सर्वप्रथम इन दोनों अवधारणाओं से क्या अभिप्राय है तथा ये दोनों किस प्रकार भिन्न हैं कि जानकारी दी गई है। इसके बाद शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता के बारे में बताया गया है। तदुपरान्त निःशस्त्रीकरण हेतु विभिन्न चरणों में किए गए प्रयासों की विस्तृत जानकारी दी गई है। अन्ततः विश्लेषण के बाद इसके भविष्य को सम्भावनाओं का उल्लेख किया गया है। अतः यह अध्याय समग्र रूप से शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण की चुनौतियों एवं उपलब्धियों का पूरा लेखा जोखा प्रस्तुत करती है।

15.2 शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण से अभिप्राय

यद्यपि शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण एक जैसे शब्द लगते हैं लेकिन इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। “शस्त्र नियंत्रण में वे सभी प्रयास शामिल हैं जो शस्त्र दौड़ में कमी करके युद्ध की सम्भावनाओं को कम करते हैं या इसके क्षेत्र को सीमित करते हैं। शस्त्र नियंत्रण निःशस्त्रीकरण से अधिक व्यापक अवधारणा है। इसमें भविष्य में हथियारों का नियंत्रण भी शामिल होता है। निःशस्त्रीकरण केवल वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों के नियंत्रण से संबंधित होता है जबकि शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादन किए जाने वाले हथियारों पर भी रोक लगाता है। आज शस्त्र नियंत्रण का प्रयोग भावी परमाणु शस्त्रों के उत्पादन को रोकने के लिए अधिक किया जाता है।

शस्त्र नियंत्रण राष्ट्रों में कटौती तथा प्रतिबन्ध के मेल से बनी अवधारणा है जो निकटवर्ती अवधारणा निःशस्त्रीकरण से अधि व्यापक है।

निःशस्त्रीकरण की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि शस्त्रास्त्र सैन्य बलों को विघटित कर देने तथा आयुधों को समाप्त कर देने पर ऐसा अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण विकसित होगा, जिसमें युद्ध के स्थान पर शान्ति के लिए महत्वपूर्ण स्थान होगा। इस प्रकार—“निःशस्त्रीकरण उस महाविनाश को रोकने का एक प्रयास है जो युद्ध के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और जिससे सम्पूर्ण मानवता की हानि होती है।”

मार्गेन्थो ने निःशस्त्रीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है — “शस्त्र दौड़ को समाप्त करने के उद्देश्य से विशेष या उसी प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति या कटौती निःशस्त्रीकरण कहलाती है।”

इस प्रकार निःशस्त्रीकरण युद्ध सामग्री तथा सैनिकों की संख्या में कटौती का पक्षधर है, जबकि शस्त्र नियंत्रण में वे सभी उपाय शामिल हैं जो शस्त्रों के प्रयोग को सीमिति या नियमित करते हैं। निःशस्त्रीकरण इस विश्व में वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों को समाप्त करने या नष्ट करने से सरोकार रखता है। यह शस्त्र नियंत्रण से कम व्यापक है। शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादित शस्त्रों को सीमित या प्रतिबन्धित करता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण वर्तमान में युद्ध सामग्री व सैनिकों को नियंत्रित करने तथा शस्त्र नियंत्रण शस्त्र दौड़ को नियंत्रित करने का प्रयास है।

लेकिन ये दोनों अवधारणाएं एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। विद्यमान युद्ध सामग्री में कटौती तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक शस्त्रों के उत्पादन या शस्त्र दौड़ पर रोक न लगाई जाए। इन दोनों के उद्देश्य समान हैं— अंतर्राष्ट्रीय जगत में शस्त्रों पर नियंत्रण या कटौती द्वारा मानव समाज को युद्ध की विभीषिका से बचाना। इसलिए वर्तमान समय में इन दोनों का समान महत्व है। आज परमाणु आयुधों के अस्तित्व ने सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। इसलिए विश्व के सभी देश निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण की वकालत करते हैं।

15.3 निःशस्त्रीकरण के प्रकार

निःशस्त्रीकरण निम्नलिखित प्रकार का हो सकता है—

15.3.1 सामान्य एवं स्थानीय निःशस्त्रीकरण

सामान्य निःशस्त्रीकरण शस्त्रार्थों का ऐसा परिसीमन है जिस पर अधिकांश राष्ट्र सहमत होते हैं। इसके अतंगत सन्धिकर्ता देशों पर गुणात्मक एवं मात्रात्मक नियंत्रण लगाए जाते हैं। इसका उदाहरण 1922 का वॉशिंगटन नौसैनिक समझौता है जिस पर हस्ताक्षर कर तत्कालिक महाशक्तियों ने नौ सैनिक क्षमताओं की होड़ की सम्भावनाओं को कम कर दिया था।

स्थानीय निःशस्त्रीकरण क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सीमित होता है तथा इसमें गिने-चुने राष्ट्र ही शामिल होते हैं। इस प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य क्षेत्रीय स्थिरता व शान्ति को सुदृढ़ करना होता है। 1871 का रश बागोट समझौता इसका उदाहरण है।

15.3.2 मात्रात्मक एवं गुणात्मक निःशस्त्रीकरण

मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण में सैन्य बलों तथा उपलब्ध शस्त्रास्त्रों का संख्यात्मक परिसीमन किया जाता है। इसका उद्देश्य सब प्रकार के शस्त्रों में कटौती करना है। 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन इसका प्रमुख उदाहरण है। गुणात्मक निःशस्त्रीकरण में विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों की कटौती की जाती है। इसमें केवल घातक शस्त्रों का ही

परिसीमन किया जाता है। 1868 के सैंट पीटर्सबर्ग समझौते द्वारा फटने वाली डमडम गोलियों का निषेध किया जाना इसी प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है। 1987 की मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि भी (अमेरिकी और सोवियत संघ) इसका प्रमुख कारण है।

15.3.3 पारस्परिक तथा आणविक निःशस्त्रीकरण

पारस्परिक निःशस्त्रीकरण में परम्परागत शस्त्रों व सेनाओं में कटौती का नाम है। आज आणविक युग में परम्परागत शस्त्रों का अधिक महत्व नहीं रह गया है। 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि आणविक निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है इसके अंतर्गत आणविक आयुधों के विकास व प्रसार को परिसीमित किया गया है।

15.3.4 पूर्ण एवं आंशिक निःशस्त्रीकरण

पूर्ण निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों को समाप्त करने का प्रयास शामिल है। इसमें आनुपातिक कटौती के स्थान पर सम्पूर्ण कटौती शामिल होती है। इसका अर्थ है एक ऐसी विश्व व्यवस्था की स्थापना जिसमें युद्ध करने के सारे मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिए गए हों। इसके तहत समस्त सैन्य बल व सैन्य सामग्री नष्ट कर दी जाएगी। ऐसी स्थिति अभी नहीं है। यह केवल एक मृगतृष्णा ही है। आंशिक निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों का परिसीमित नहीं किया जाता है। यह सामान्य या स्थानीय संदर्भ में सैन्य बलों तथा शस्त्रास्त्रों पर मात्रात्मक एवं गुणात्मक सीमाएं लगाता है जिससे युद्ध की विनाशकता में कमी आती है। SALT-I और SALT-II इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

15.3.5 अनिवार्य और ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण

अनिवार्य निःशस्त्रीकरण युद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों द्वारा पराजित राष्ट्रों पर थोपा जाता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों के बाद जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाना इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार का निःशस्त्रीकरण भेदभावपूर्ण होता है और इससे स्थायी शान्ति की नींव नहीं पड़ सकती। इसके विपरीत ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण को राष्ट्र स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। 1968 की अणु प्रसार निरोध सन्धि इसका उदाहरण है। इससे शान्ति की नींव मजबूत होती है। यह स्थायी होता है। इसे बाध्यकारी बल की आवश्यकता नहीं होती है।

15.4 निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण क्यों?

(Why Disarmament and Arms Control?)

शस्त्रीकरण के दुष्परिणामों को संसार दो विश्व युद्धों के परिणामों के रूप में झेल चुका है। जापान ने तो परमाणु शस्त्रीकरण के व्यापक प्रभावों की जो मार सही है, वह सर्वविदित है। आज तक मनुष्य ने शस्त्रों के बल पर जितने शान्ति के प्रयास किए हैं वे अस्थायी ही रहे हैं। शान्ति को स्थाई रूप में कायम करने के लिए निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण का होना अति आवश्यक है। इनके अभाव में विश्व शान्ति का विचार निर्मूल सा प्रतीत होता है। निःशस्त्रीकरण विभिन्न महाशक्तियों में तनाव में कमी करके स्थायी शान्ति स्थापित करता है। आज आणविक युग में तो इसका महत्व और ज्यादा है। हम जिस वातावरण में जी रहे हैं वह अशान्त व अविश्वास का है। शस्त्रीकरण ने मानव व प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग किया है। इसने राष्ट्रों के मध्य तनावों को जन्म दिया है। इसने तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। आज शान्ति, सुरक्षा व समृद्धि के लिए इसकी अत्यंत आवश्यकता है। निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण ही केवल एकमात्र ऐसा उपाय है जो विश्व शान्ति के विचार को प्रबल बना सकता है। इसलिए निःशस्त्रीकरण व शस्त्र-नियंत्रण की आवश्यकता निम्न कारणों से है —

15.4.1 निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करता है

शस्त्रीकरण से शस्त्र-निर्माण की दौड़ में वृद्धि होती है। सभी राष्ट्र अल्प सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का भंडारण करने लग जाते हैं। इससे वे दूसरे के हितों की उपेक्षा करने का अपराध कर बैठते हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। राज्यों में वैमनस्य की भावना प्रबल हो जाती है। ऐसे में सदैव युद्ध का खतरा बना रहता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए तनाव घटाना आवश्यक है और तनाव घटाने के लिए शस्त्र दौड़ तथा शस्त्र दौड़ घटाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण।

15.4.2 निःशस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग विकसित होता है

सभी नवोदित राष्ट्रों ने अपने आर्थिक विकास ने अनेक प्रयत्न किए हैं, लेकिन उनके सारे प्रयास असफल ही रहे हैं। अपना स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व बनाए रखने के लिए इन देशों ने शस्त्र उत्पादन तथा शस्त्र-भण्डारण पर पानी की तरह पैसा बहाया है। शस्त्र दौड़ का प्रभाव विकसित देशों पर भी पड़ा है। इसलिए जब तक इन देशों का अधिकतर बजट शस्त्रों की खरीद-फरोख्त पर व्यय होगा, ये देश अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकते। इसलिए आर्थिक विकास के लिए शस्त्रों पर खर्च किए जाने वाले व्यय को रोकना अति आवश्यक है। ऐसा केवल निःशस्त्रीकरण या शस्त्र-नियंत्रण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

15.4.3 निःशस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना में कमी आती है

यह बात सत्य है कि आज लड़ाई दो सेनाओं के बीच न होकर, दो हथियारों के बीच होती है। जिस देश के पास पर्याप्त मात्रा में अस्त्र-शस्त्र हो, वह दूसरों के लिए भी प्रेरणा स्रोत बन जाता है। शक्ति मनुष्य को पथभ्रष्ट करती है और अत्यधिक शक्तिशाली होना नाश का कारण बनता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा जापान पर बमों का प्रयोग किया जाना उसके शक्ति प्रदर्शन का ही एक अंग था। शक्ति प्रदर्शन का सबसे अच्छा अवसर युद्ध होता है। इसलिए दूसरे देश की तरह प्रत्येक देश सैन्य या शस्त्र शक्ति में वृद्धि करना चाहता है ताकि जरूरत पड़ने पर उसका प्रयोग किया जा सके। यदि किसी देश के पास शस्त्र न हों तो वह युद्ध में अधिक विनाशकारी भूमिका नहीं निभा सकता। शस्त्र दौड़ को अपने राष्ट्रीय हितों के रूप में परिभाषित करने की जो प्रवृत्ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए खतरनाक है। शस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य को बढ़ावा देकर, अन्त में युद्ध का कारण बनता है। अतः आज सबसे अधिक आवश्यकता शस्त्र दौड़ को रोकने की है ताकि तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को धूमिल किया जा सके। इसके लिए यह जरूरी है कि अन्धाधुन्ध शस्त्र दौड़ व शक्ति प्रदर्शन से बचा जाए। ऐसी परिस्थिति में निःशस्त्रीकरण ही एक मात्र उपाय है जो हमें युद्ध की विभीषिका से बचाकर शान्ति के मार्ग की ओर ले जा सकता है।

15.4.4 निःशस्त्रीकरण जन-कल्याण का मार्ग है

आज शास्त्र दौड़ के युग में गरीब से गरीब देश भी अपने राष्ट्रीय सुरक्षा व हितों के नाम पर शस्त्रों को खरीदने या उनका निर्माण करने पर अरबों-खरबों रुपये खर्च करते हैं। इससे वे अपनी जनता की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी न करने के दोषी बन जाते हैं। यदि आज जो राशि शस्त्र दौड़ पर खर्च हो रही है, उसे जनकल्याण के कार्यों पर खर्च कर दिए जाए तो समस्त विश्व की कायापलट हो सकती है। विश्व में बढ़ रही भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी तथा अकाल जैसी समस्याओं का सफलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। शस्त्र मनुष्य का पेट नहीं भर सकते और न तन ढांपने के लिए उसे कपड़ा दे सकते हैं। आइजहावर ने इस बात में अपना मत देते हुए कहा है कि "प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता है, जो टिटुरते हैं किन्तु उन्हें वस्त्र नहीं दिए जाते, एक चोरी का सूचक है।" आज सभी देश आर्थिक विकास के संसाधनों का शस्त्र साधनों

पर जो खर्च कर रहे हैं, वह विश्व के भावी कल्याण के लिए शुभ संकेत नहीं है। इससे जन कल्याण का मार्ग अवरुद्ध होगा। यदि हमें जनकल्याण को बढ़ावा देना है और विश्व में सच्ची शान्ति की स्थापना करनी है तो शस्त्रों पर किए जाने वाले खर्च की दिशा आर्थिक विकास की ओर करनी होगी। आज विश्व शान्ति व समृद्धि के लिए आवश्यकता शस्त्रों की नहीं, निःशस्त्रीकरण की है। निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो विश्व से भुखमरी, गरीबी, कुपोषण जैसी भयानक समस्याओं का निदान कर सकता है। इससे बढ़कर जनकल्याण का मार्ग कोई दूसरा नहीं हो सकता।

15.4.5 शस्त्रीकरण से विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो सकता

शस्त्रीकरण से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कटुता व वैमनस्य की भावना का जन्म होता है। एक देश दूसरे देश से अवांछित व्यवहार करना आरम्भ कर देता है। शस्त्र शक्ति से सम्पन्न देश कमजोर देशों पर अपनी नीतियां थोपकर मनमाना हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति को जन्म देता है। घृणा और द्वेष का नकारात्मक वातावरण पैदा होने लगता है। परस्पर विवाद इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनके स्थायी युद्ध में बदलने की पूर्ण सम्भावना रहती है। शान्तिपूर्ण उपायों के लिए ऐसे अशान्त व विवादपूर्ण वातावरण में कोई स्थान नहीं होता है इसलिए शस्त्रीकरण पर नियंत्रण आवश्यक बन जाता है। निःशस्त्रीकरण ही ऐसा साधन है जो अंतर्राष्ट्रीय विवादों के स्थायी समाधान के लिए शान्त व सकारात्मक वातावरण का निर्माण करता है।

15.4.6 शस्त्रीकरण सर्वनाश का दूत है

आज विश्व के शास्त्रस्त्रों की जो होड़ बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए शुभ संकेत नहीं है। आज बम्ब के आविष्कार ने द्रुतगामी प्रक्षेपास्त्रों को जन्म दे दिया है। आज एक स्थान पर ही बैठकर परमाणु शस्त्रों को ले जाने वाले वाहनों का बटन दबाकर विश्व के किसी भी कोने में विनाश किया जा सकता है। जापान पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रयोग किए गए बम एकमात्र ट्रेलर थे। आज यदि अणुशक्ति की पूरी फिल्म देख ली जाए तो पृथ्वी पर कुछ भी नहीं बचेगा सम्पूर्ण पृथ्वी एक अन्धकारमय आवरण से ढक जाएगी। अणु शक्ति के प्रयोग के बाद हजारों वर्षों तक जारी रहने वाला विकिरण भविष्य में मानव जाति के जन्म की सभी सम्भावनाओं को निर्मूल कर देगा। ऐसे सर्वनाश से बचने को एकमात्र उपाय यही है कि शस्त्रीकरण की बजाय शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण पर ध्यान दिया जाए ताकि सम्पूर्ण मानव जाति व पृथ्वी को महाविनाश से बचाया जा सके।

15.4.7 शस्त्रीकरण से अवांछित हस्तक्षेप को बढ़ावा मिलता है

शस्त्रीकरण असुरक्षा को ऐसा वातावरण निर्मित कर देता है कि कमजोर से कमजोर देश भी शस्त्र प्राप्ति के लिए विकसित देशों या शस्त्र निर्माता धनी देशों पर निर्भर हो जाता है। शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ ने शस्त्रीकरण को जिस कदर बढ़ावा दिया, वह विश्व शान्ति के लिए सबसे घातक बना हुआ। अस्त्र आपूर्ति के नाम पर इन महाशक्तियों ने अवांछित हस्तक्षेप का जो खेल विश्व में खेला, वह सर्वविदित है। इसी तरह की प्रवृत्ति आज भी है। अमेरिका जैसा देश पाकिस्तान के आर्थिक व राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। इससे एशिया महाद्वीप में शान्ति को सबसे बड़ा खतरा बना हुआ है। महाशक्तियों द्वारा ऐसा हस्तक्षेप अनुचित है। इससे गरीब राष्ट्रों पर अनुचित दबाव पड़ता है। इसलिए यदि गरीब देशों की शस्त्र आवश्यकताओं कम हो जाएं या समाप्त हो जाएं तो विकसित देशों को विकासशील देशों में हस्तक्षेप का अवसर नहीं मिलेगा। उनकी इस निर्भरता को निःशस्त्रीकरण के द्वारा ही कम किया जा सकता है।

15.4.8 शस्त्रीकरण नैतिकता के विपरीत है

शस्त्रीकरण युद्ध को जन्म देता है और युद्ध सदैव अनैतिक होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का उत्पादन या संग्रह करना अनैतिक है। युद्ध राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का नैतिक साधन नहीं है। इससे मानवता की हानि

होती है। नैतिकतावादी विचारकों का कहना है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी अच्छे ही होने चाहिए। इसलिए निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो नैतिकता के अधिक निकट हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण ही विश्व शान्ति की स्थापना का सच्चा आधार हो सकता है। आज विश्व में चारों तरफ आतंक का जो संतुलन है, उसे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों से ही कम या समाप्त किया जा सकता है। मानव जाति के अस्तित्व को आज सबसे अधिक खतरा आणविक हथियारों से है। निःशस्त्रीकरण के बिना सम्पूर्ण विनाश को नहीं रोका जा सकता है। इसलिए आज अनेक राजनेता, कूटनीतिज्ञ, दार्शनिक व वैज्ञानिक विश्व में शस्त्र-दौड़ को कम करने या समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं। लेकिन कुछ स्वार्थी व्यक्ति निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण को अधिक महत्व देते हैं। उनका कहना है कि निःशस्त्रीकरण से हजारों कारखाने बन्द हो जाएंगे और अनेक देशों में बेरोजगारी तथा भुखमरी बढ़ जाएगी। इससे तकनीकी विकास का मार्ग अवरुद्ध होगा। उनका यह तर्क अधिक अच्छा नहीं है। मानव ज्ञान का मानवता के विनाश के लिए प्रयोग करना अनुचित व अनैतिक है। आज मनुष्य जाति को विनाश से बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण की अत्यधिक आवश्यकता है। विश्व राजनेताओं द्वारा इस दिशा में सकारात्मक प्रयास करने चाहिए ताकि विश्व शान्ति का आधार मजबूत हो। तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावनाएं क्षीण हों और मानवता की सुरक्षा व समृद्धि की गारन्टी प्राप्त हो।

15.5 निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण के लिए किए गए प्रयास

निःशस्त्रीकरण का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना शस्त्रीकरण का जब से मनुष्य ने शस्त्र निर्माण और उनके की कला सीखी, साथ में उनके दुष्प्रभावों की चिन्ता भी सताने लगी। मनुष्य सदैव शास्त्रास्त्रों से भय खाता आया है और शान्ति के बारे में विचार करता रहा है। उसकी या शासन सत्ता की तरफ से निःशस्त्रीकरण के बराबर प्रयास किया जाते रहे हैं। लेकिन प्रारम्भिक चरण में उसे आंशिक सफलता भी प्राप्त नहीं हुई। निःशस्त्रीकरण का प्रथम प्रयास सैद्धान्तिक तौर पर 1648 ई. में शुरू हुआ। इस समय वैस्टफालिया की सन्धि में प्रथम बार अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण तथा सैनिक शक्ति में कटौती का अनुभव किया गया। उस समय से आज तक इसकी निरन्तर प्रगति हो रही है। निःशस्त्रीकरण के इतिहास को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है—

15.5.1 प्रथम विश्व युद्ध से पहले

प्रथम विश्व युद्ध से पहले 1648 की वैस्टफालिया सन्धि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम प्रयास थी। इसके बाद 1817 में रश-बेगोट समझौते द्वारा कनाडा-अमरीका सीमांत को निःसैन्य करने पर सहमति जताई। निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास था जिस पर ब्रिटेन तथा अमेरिका ने सामूहिक रूप से स्वीकार किया। 1831 के फ्रांसीसी निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव में भी असैन्यकृत विश्व की कल्पना की गई, लेकिन इसे ज्यादा महत्व नहीं दिया गया। इसके बाद 1868 की सैन्ट पीटर्सबर्ग सन्धि में भी फटने वाली डमडम गोलियों के प्रयोग की मनाही की गई। 1870 में ब्रिटेन भी नियोजना का प्रस्ताव रखा लेकिन इसका भी वही काल हुआ जो 1981 की फ्रांसीसी योजना का हुआ था। इसके उपरान्त 1874 में बैसेल्स प्रस्तावों में भी वायु प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग की मनाही की गई। इसे भी व्यापक समर्थन नहीं मिल सका।

19वीं सदी के अन्त में 1899 के प्रथम हेग सम्मेलन में मानव कल्याण व विश्व शान्ति के लिए शस्त्रार्थी में कटौती करने पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में हवा में से मार करने वाले अस्त्रों तथा विस्फोटकों को दागने पर प्रतिबंध लगाया गया और बेहोश करने वाली गैसा का प्रयोग भी वर्जित किया गया। इसके बाद 1907 में सामूहिक निःशस्त्रीकरण का सार्थक प्रयास द्वितीय हेग सम्मेलन में किया गया। इस सम्मेलन में सैनिक व्यय में कटौती का प्रस्ताव लाया गया लेकिन। इन दोनों सम्मेलनों ने युद्ध के संचालन को विनिमय करने तथा युद्ध की

क्रूरताएं कम करने के प्रयासों की नींव अवश्य डाल दी। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत ने विश्व शान्ति के सारे उपायों को समाप्त कर दिया और 1914 से पूर्व निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास कल्पना की वस्तु बनकर रह गए।

15.5.2 प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक

1919 में प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते ही विश्व शांति के प्रयास तेज हो गए। इस युद्ध में प्रयोग किए गए हथियारों के प्रभावों पर व्यापक विचार विमर्श हुआ। भविष्य में ऐसे किसी भी युद्ध की सम्भावना को रोकने के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना पर विचार किया गया और विश्व शांति बनाए रखने का उत्तरदायित्व इसे ही सौंपा गया। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के अन्दर व इससे बाहर दोनों तरफ निःशस्त्रीकरण के प्रयास किए गए।

1. **राष्ट्र संघ द्वारा किए गए प्रस्ताव** – राष्ट्र संघ के संविधान में धारा 8 के अंतर्गत शान्ति स्थापना के लिए राष्ट्रीय शास्त्रास्त्रों को राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुरूप कम करने के लिए निःशस्त्रीकरण समझौतों का प्रयास करने का प्रावधान किया गया। लीग की सदस्यता ग्रहण करने वाले देशों को शस्त्र नियंत्रण को स्वीकार करने की शर्त स्वीकार करना अनिवार्य था। 28 जून 1919 की वर्साय संधि को स्वीकार करने वाले देशों ने राष्ट्र संघ के सदस्यों के रूप में अपनी सैनिक शक्ति में कमी लाने का प्रथम व्यवहारिक प्रयास किया। इसके अंतर्गत विजेता राष्ट्रों द्वारा हारे हुए देशों का अनिवार्य निःशस्त्रीकरण किया।

राष्ट्रसंघ ने अपनी निःशस्त्रीकरण की कार्य योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित प्रयास किए –

1. **स्थायी परामर्शदाता आयोग** – राष्ट्रसंघ ने निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए जनवरी, 1920 में स्थायी परामर्शदाता आयोग की स्थापना की। विशुद्ध सैनिक संगठन होने के नाते यह निःशस्त्रीकरण की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर सका। इसलिए नवम्बर, 1920 में इसमें 6 असैनिक सदस्यों को शामिल करके इसे अस्थायी मिश्रित आयोग में बदल दिया गया। अतः इससे निःशस्त्रीकरण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई।
2. **जेनेवा प्रोटोकॉल** – इसका उद्देश्य मध्यस्थता द्वारा सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण के प्रयास करना था। 15 जून, 1925 को प्रोटोकॉल का अनुसरण करते हुए सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने पर विचार विमर्श हुआ लेकिन ग्रेट ब्रिटेन ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रयास राष्ट्रसंघ द्वारा जेनेवा प्रोटोकॉल व्यवस्था के तहत किया गया निःशस्त्रीकरण का प्रयास असफल हो गया।
3. **निःशस्त्रीकरण आयोग**– 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बन्द कर देने पर इसकी जगह राष्ट्र संघ ने सज्जीकरण आयोग की स्थापना की। इसका कार्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए तैयारी करना था। इस आयोग ने 1930 तक निःशस्त्रीकरण मतभेदों को दूर करने में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल नहीं की। 1930 में व्यापक विचार विमर्श के बाद इस आयोग ने अपनी कार्य योजना का ढांचा पेश किया। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थी

(क) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों पर रोक लगाई जाए।

(ख) स्थल युद्ध की सामग्री का मात्रात्मक तथा गुणात्मक परिसीमन किया जाए।

(ग) अनिवार्य सैनिक सेवा को निश्चित सीमा तक कम किया जाए।

(घ) हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर सीमित किया जाए।

(ड.) स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की जाए।

4. **जेनेवा सम्मेलन** – सज्जीकरण आयोग की प्रमुख बातों को ही ध्यान में रखकर 13 फरवरी, 1932 को राष्ट्र संघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में हुआ। इसमें 61 राष्ट्रों के 232 प्रतिनिधियों ने अपने 337 प्रस्तावों सहित भाग लिया। यद्यपि यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक व्यवस्थित प्रयास था लेकिन मंचूरिया संकट की काली छाया भी इस पर पड़ी। इस सम्मेलन में निम्नलिखित बातों पर विचार हुआ।

(क) आक्रमणकारी को कठोरतापूर्वक सजा देना तथा पंचनिर्णय को अनिवार्य बनाना।

(ख) विवादों को मध्यस्थता द्वारा हल करना।

(ग) राष्ट्र संघ की सुरक्षात्मक शक्ति का विकास अर्थात् दण्डात्मक सेना का निर्माण

लेकिन परस्पर सहयोग की भावना के अभाव के कारण यह सम्मेलन असफल रहा। इस सम्मेलन में प्रत्येक देश अपनी-अपनी धाक जमाने की फिराक में था। जर्मनी ने शस्त्रास्त्रों में समान कटौती का विचार रखा। उसने कहा कि वर्साय की सन्धि के अनुसार जो अन्याय उसके साथ हुआ था। उसे समाप्त किया जाए। अब उसे भी अन्य यूरोपीय शक्तियों के समान ही सैन्य शक्ति का विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। जब उसकी बात को मानने से इंकार कर दिया गया तो उसने राष्ट्र संघ के इस निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से दूर होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार राष्ट्र संघ के सदस्य देशों के भेदभावपूर्ण व्यवहार व गलत नीतियों के कारण निःशस्त्रीकरण के इस व्यवस्थित प्रयास को गहरा आघात पहुंचा।

राष्ट्र संघ के बाहर किए गए प्रयास

1919 से 1939 तक विभिन्न देशों ने विश्व शांति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से आपस में अनेक वार्ताएं की जिससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला। इस दौरान किए गए निःशस्त्रीकरण के प्रयास निम्नलिखित हैं—

1. **वॉशिंगटन नौ-सैनिक सम्मेलन**— यह सम्मेलन 12 नवम्बर, 1921 से 6 फरवरी, 1922 तक वॉशिंगटन (अमेरिका) में हुआ। सड़ सम्मेलन में सात सन्धियां की गईं। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी राष्ट्र संघ का सदस्य न होते हुए भी ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बैल्जियम, हॉलैंड, पुर्तगाल, चीन व जापान के साथ भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य विभिन्न देशों में नौ सेना के विस्तार के लिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक प्रतिस्पर्धा को रोकना था। इस सम्मेलन में 'नौसैनिक प्रतिस्पर्धा परिसीमन सन्धि पर सभी देशों ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि में नवीन विशाल नौ सैनिक पोत बनाने, अड़डे स्थापित करने, वर्तमान नौ सैनिक अड़डों की नए सिरे से किला बन्दी करने पर सहमति हुई। लेकिन इस सम्मेलन में पनडुब्बियों, छोटे युद्धपोतों विध्वंसकों के सम्बन्ध में कोई आम राय नहीं बन सकी। फ्रांस ने इस सन्धि का समर्थन नहीं किया। इसलिए इसका व्यापारिक रूप नहीं बन सका और अंतर्राष्ट्रीय नौ-सैनिक शक्तियों में निर्णय प्रतिस्पर्धा जारी रही।
2. **जेनेवा नौ-सेना सम्मेलन** – अमेरिका की पहल पर 1927 में एक नवीन नौ सैनिक समझौता करने हेतु जेनेवा में सम्मेलन बुलाया गया। फ्रांस व इटली इसमें शामिल नहीं हुए। अमेरिका, जापान व ब्रिटेन के मध्य विचार विमर्श तक ही यह सम्मेलन सिमटकर रह गया। इस तीनों देशों में भी आपस में आप सहमति नहीं बन सकी। अतः यह सम्मेलन भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा।
3. **लन्दन नौ-सेना सम्मेलन** – 1927 के जेनेवा सम्मेलन के असफल रहने पर नवीन प्रयास के रूप में प्रथम लन्दन नौसेना सम्मेलन 21 जनवरी 1930 को प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में नौ सैनिक शक्ति को समतुल्यता के आधार पर घटाने के लिए सभी देशों को कहा गया। इटली ने फ्रांस के साथ, जापान ने ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ समतुल्यता शक्ति को घटाने पर विचार किया। इसमें हुए सन्धि के कारण

अमेरिका तथा जापान ने ब्रिटेन के साथ मिलकर क्रूजरो, विध्वंसकों तथा पनडुब्बियों में भार वाहक क्षमता को सीमित करना स्वीकार किया। फ्रांस तथा इटली ने इस सन्धि पर अपनी असहमति व्यक्त की। इस सन्धि की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं

(क) इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन ने 5, अमेरिका ने 3 तथा जापान ने 1 बड़ा युद्ध पोत नष्ट करने पर सहमति जताई।

(ख) पांच महाशक्तियों ने 1936 तक नए युद्धपोतों के निर्माण पर रोक लगा दी।

(ग) सामान्य युद्ध पोतों पर 5.1 इंच से अधिक तथा बड़े युद्ध पोतों पर 6.1 इंच से अधिक व्यास की तोपे न लगाने पर सहमति हुई।

(घ) इसमें पनडुब्बियों का आकार 2000 टन तक घटाने पर समझौता हुआ।

लेकिन इस सन्धि का एक दोष यह था कि इसकी एक धारा में हस्ताक्षर करने वाले देशों को यह अधिकार दिया गया था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय स्थिति खराब हो जाती है तो सन्धिकर्ता देश फिर से शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। यही प्रावधान इसकी असफलता का सबसे बड़ा कारण था।

4. **द्वितीय लंदन नौ-सेना सम्मेलन** – इसका प्रयास 1935 में अन्तिम रूप से साकार हुआ। यह सम्मेलन 9 दिसम्बर, 1935 से आरम्भ होकर 25 मार्च 1936 तक चला। इस सम्मेलन में सभी महाशक्तियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर जल सेना रखने की मांग की। प्रथम सम्मेलन की तरह यह भी परस्पर विरोधी मांगों का अखाड़ा मात्र बन गया। इटली ने भी फ्रांस के साथ नौ सैनिक शक्ति की समतुल्यता की मांग की। इस तरह जापान और इटली ने इसमें कोई सहयोग नहीं दिया। इस सन्धि पर केवल अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने ही हस्ताक्षर किए। लेकिन जापान और इटली के सहयोग के बिना यह सम्मेलन अधिक सफल नहीं रहा। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने केवल भविष्य में नौ-सेना निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों की सूचनाओं का परस्पर आदान-प्रदान करने का निर्णय किया।

इस प्रकार इस दौरान किए गए सन्धियां व समझौते किसी बाध्यकारी शक्ति के अभाव के कारण असफलता का ताज बनते गए और विश्व के अनेक देशों में परस्पर वैमनस्य की भावना बढ़ती रही। सभी महाशक्तियों ने शस्त्र दौड़ को जारी रखा। अन्त में शस्त्र प्रतिस्पर्धा ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कटुता पैदा कर दी और इसकी परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में हुई।

15.5.3 द्वितीय विश्वयुद्ध से शीत-युद्ध के अन्त तक

शस्त्र दौड़ ने द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इसके परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध से भी अधिक भयानक थे। इस युद्ध में प्रथम बार आणविक प्रहार किए गए। इससे जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासाकी आणविक हथियारों का निशाने बने। इस युद्ध की भयानक विनाश लीला ने विश्व को नए सिरे से शान्ति के लिए विचार करने को विवश कर दिया। इसलिए विश्व के अनेक देशों ने निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उपाय तलाशने शुरू कर दिए। यद्यपि शीत युद्ध की उग्रता ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपायों को ठेस अवश्य पहुंचाई, लेकिन इस दौरान अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास भी किये गए ताकि तृतीय विश्व युद्ध या शीत युद्ध को वास्तविक युद्ध में परिवर्तित होने पर रोक लग सके। 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक निःशस्त्रीकरण के लिए किए गए प्रयास निम्नलिखित हैं—

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद निर्मित अंतर्राष्ट्रीय संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) ने निःशस्त्रीकरण

या शस्त्र नियंत्रण की जिम्मेदारी अपने प्रसिद्ध अंग सुरक्षा या महासभा को सौंप दी। UNO के चार्टर की धारा 2, 11, 26, 47 में निःशस्त्रीकरण का उल्लेख किया गया है।

2. अणु शक्ति आयोग – जनवरी 1946 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा एक अणु शक्ति आयोग की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। इस आयोग का उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जो राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत रखने को तैयार हो जाए ताकि परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किया जा सके। सुरक्षा परिषद ने इस आयोग को निर्देश दिया कि वह निम्नलिखित विषयों पर प्रस्ताव तैयार करे—

(अ) अणु शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करना सुनिश्चित बनाना।

(ब) अणु शक्ति के वैज्ञानिक ज्ञान का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विभिन्न देशों में आदान-प्रदान।

(स) जनसंहारक अणु आयुधों को बहिष्कृत करना।

(द) प्रभावशाली निरीक्षण व्यवस्था का ढांचा तैयार करना ताकि उससे कोई बच न सके।

परम्परागत आयोग की प्रथम बैठक 14 जून 1946 को न्यूयॉर्क में हुई। अमेरिका ने इस बैठक में परमाणु कार्यक्रम पर अपना एकाधिकार बनाए रखने के उद्देश्य से एक ऐसी योजना रखी जो अधिक अन्यायपूर्ण थी। इसलिए सोवियत संघ ने अमेरिका की इस 'बरुच योजना' को अस्वीकार कर दिया। सोवियत संघ ने अणु बमों के संग्रह को नष्ट करने पर जोर दिया। उसने साथ में यह भी कहा अणु शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रभावशाली उपाय किए जाए। अमेरिका और सोवियत संघ ने अलग-अलग सुझाव पेश करके इस योजना को खटाई में डाल दिया। इसलिए निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी सफल नहीं हो सका।

3. परम्परागत-शस्त्र आयोग – इसकी स्थापना फरवरी, 1947 में की गई। सुरक्षा परिषद के सभी सदस्य इस आयोग में शामिल थे। इस आयोग का उद्देश्य सेना के शस्त्रों पर नियंत्रण रखना तथा उनमें कमी करने का प्रयास तलाशना था। इस आयोग में सोवियत संघ ने सुझाव दिया कि अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों का सर्वप्रथम निःशस्त्रीकरण किया जाए। लेकिन अमेरिका का कहना था कि शस्त्रों को कम करने पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। सोवियत संघ ने कहा कि प्रत्येक देश को अपनी सेना में 1/3 कटौती करनी चाहिए और परमाणु हथियारों के निर्माण पर रोक लगानी चाहिए तथा जितने परमाणु शस्त्र बन चुके हैं, उन्हें तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए। इस तरह परस्पर विरोधी विचारधारा व शीत-युद्ध के चलते अमेरिका और सोवियत संघ ने निःशस्त्रीकरण के इस प्रयास को भी धराशायी कर दिया।

4. संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग – जनवरी, 1952 में परम्परागत शस्त्र आयोग तथा अणु शक्ति आयोग दोनों को मिलाकर संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना कर दी गई। इसे सुरक्षा परिषद के अधीन रख गया। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों (अणु आयुधों सहित) व सेनाओं के नियमन तथा दूसरी समिति को राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों सम्बन्धि सूचनाओं पर विचार-विमर्श का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के सभी सदस्यों के साथ-साथ कनाडा का भी शामिल किया गया। इस प्रकार इसकी सदस्य संख्या 12 हो गई। इस आयोग ने अपने व्यापक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हुए-सैन्य बल के आधार व शस्त्रास्त्रों की संख्या में कटौती, व्यापक निःशस्त्रीकरण सन्धियां, वास्तविक शस्त्र संख्या आदि पर सुझाव दिए। सोवियत संघ ने इस बात पर जोर दिया कि सभी देशों को अपनी सेनाओं में 1/3 कटौती करनी चाहिए। आणविक आयुधों पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए तथा आणविक ज्ञान का हस्तांतरण करना चाहिए। लेकिन अमेरिक ने आणविक ज्ञान के आदार-प्रदान के उपरान्त ही निःशस्त्रीकरण के उपाय करने पर जोर दिया। इस प्रकार परस्पर मतभेदों के

कारण इस आयोग की कार्यप्रणाली पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा और निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी अपने पूर्ववर्ती प्रयासों की तरह निरर्थक सिद्ध हुआ।

5. **शान्ति हेतु अणु योजना** – 1953 में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावन ने शान्ति हेतु परमाणु योजना प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करने की बात कही। लेकिन उन्होंने परमाणु हथियारों के भविष्य के बारे में कुछ नहीं कहा। इसी बात पर आशंकित होकर सोवियत संघ ने कहा कि परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग करने के लिए यह जरूरी है कि वर्तमान परमाणु आयुधों को नष्ट कर दिया जाए। अमेरिका ने सोवियत संघ का यह सुझाव स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार शान्ति की यह योजना भी असफल रही।
6. **जेनेवा सम्मेलन** – जुलाई, 1955 में स्विटजरलैण्ड के जेनेवा नगर में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजहावर ने खुली आकाश योजना प्रस्तुत की। इस सम्मेलन में सोवियत, संघ, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 'मुक्त आकाश योजना' प्रस्तुत करके अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ परस्पर सैनिक बजट, वर्तमान शक्ति एवं उसके विकास की सम्भावनाओं का पारस्परिक आदार-प्रदान तथा परस्पर जांच व निरीक्षण करने का रास्त साफ कर दिया। लेकिन सोवियत संघ ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया और कहा कि हथियारों की जांच व निरीक्षण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण अभिकरण की स्थापना की जाए। उसने आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबंध तथा परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने की आवश्यकता पर भी बल दिया। अमेरिका ने सोवियत संघ की मांगों का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप यह योजना भी निष्क्रिय रही।
7. **निःशस्त्रीकरण आयोग की उपसमिति की बैठक**— 14 जून, 1957 को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक हुई। इसमें रूस ने त्रिसूत्री फार्मूला पेश किया गया (क) दो वर्ष के लिए परमाणु परीक्षण रोक दिए जाएं (ख) परीक्षण की रोक को प्रभावी बनाने हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाए। (ग) समझौते के क्रियान्वयन के लिए एक नियंत्रण कक्ष स्थापित किया जाए। परन्तु सोवियत संघ के यह प्रस्ताव पश्चिमी शक्तियों को स्वीकार्य नहीं हुए। इसलिए यह प्रयास भी बेकार सिद्ध हुआ।
8. **निःशस्त्रीकरण की बुलगानिन योजना** – फरवरी, 1958 में सोवियत संघ के प्रधानमंत्री ने एक निःशस्त्रीकरण योजना का ढांचा पेश किया जिसे बुलगानिन योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना के प्रमुख प्रस्ताव निम्नलिखित थे—
 - (क) सभी तरह के परमाणु व तापनाभिकीय शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाई जाए।
 - (ख) अमेरिका, ब्रिटेन और रूस परमाणु शस्त्रों को नष्ट करें।
 - (ग) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को वापिस बुलाया जाए।
 - (घ) आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के बारे में समझौता किया जाए।
 - (ङ.) नाटो तथा वार्सा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता किया जाए।

अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों ने सोवियत संघ की योजना को एक प्रचार बताया। इस प्रकार यह योजना भी फलौप हो गई।

9. **रापाकी योजना** – मार्च 1958 में पोलैण्ड के विदेश मंत्री ने 'रापाकी योजना' प्रस्तुत की जिसमें यूरोप की सुरक्षा व शान्ति के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को परमाणु शक्ति विहीन करने का सुझाव दिया गया। इस योजना के तहत इन देशों में आणविक शस्त्रों के निर्माण, संग्रह व उपयोग पर

रोक लगाना प्रस्तावित हुआ। सोवियत संघ ने तो इसका समर्थन कर दिया, लेकिन अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार 'रापाकी योजना' ने भी असफलता का ताज पहन लिया।

10. **पूर्ण सर्वमान्य निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव** – 18 सितम्बर, 1959 को सोवियत संघ के प्रधानमंत्री खुश्चेव ने निःशस्त्रीकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में इस प्रस्ताव में कहा कि चार वर्ष के अन्दर सभी राष्ट्रों का इस प्रकार निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि युद्ध के सभी साधन समाप्त हो जाए। इसके साथ-साथ एक आंशिक निःशस्त्रीकरण योजना भी प्रस्तुत की गई जिसमें नाटो व वारसा पैक्ट के देशों में एक अनाक्रमण सन्धि करने, आक्रमण के समय परस्पर सहायता करने, यूरोप के देशों से विदेशी सेना हटाने, मध्य यूरोप को परमाणु विहीन क्षेत्र बनाने पर विचार किया गया। लेकिन शीत-युद्ध की उग्रता के कारण दोनों महाशक्तियों में इस योजना पर आम राय नहीं बन सकी। इसलिए यह योजना भी असफल रही।
11. **दस राष्ट्रीय जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन**— यह सम्मेलन 1960 में जेनेवा में हुआ इसमें 10 राष्ट्रों ने भाग लिया, ये राष्ट्र थे— ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, इटली, बुल्गारिया, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत संघ तथा चेकोस्लोवाकिया। इसमें 5 नाटो के तथा 5 वर्साय सन्धि के देश थे। इसमें प्रथम स्तर की वार्ता में समस्त पक्षों के बीच आणविक व प्रक्षेपास्त्र निःशस्त्रीकरण एवं पारम्परिक सैन्य बल के परिसीमन पर व्यापक चर्चा हुई। द्वितीय स्तर की वार्ता में तीन परमाणु शक्तियों, अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन के बीच परमाणु शस्त्र-नियंत्रण, परिसीमत तथा आणविक परीक्षण निषेध पर विचार-विमर्श हुआ। परन्तु परस्तर कोई सर्वमान्य समझौता न होने के कारण यह सम्मेलन भी निष्क्रिय हो गया।
12. **अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि**— यह निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम था। अमेरिका के राष्ट्रपति कैंनेडी तथा सोवियत संघ के प्रधानमंत्री खुश्चेव के प्रयासों से निःशस्त्रीकरण का कुछ विकास हुआ। 15 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा अमेरिका ने इस सीमित परमाणु सन्धि पर हस्ताक्षर किए और यह सन्धि 10 अक्टूबर, 1963 को लागू हुई तो इस पर 100 देश हस्ताक्षर कर चुके थे। इस सन्धि के द्वारा भूगर्भीय-परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र तथा परमाणु परीक्षण करने पर पाबन्दी लगा दी गई। इसकी प्रमुख धाराएं निम्नलिखित थे—
 - (क) प्रथम धारा में तीनों देशों द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने क्षेत्राधिकार में वायुमण्डल आकाश तथा समुद्र में किसी तरह का आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।
 - (ख) इसकी दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था की गई।
 - (ग) तीसरी धारा में तीनों देशों की सहमति पर नए देश के इसमें शामिल होने का प्रावधान किया गया।
 - (घ) इसकी चौथी धारा में सन्धि से अलग होने का प्रावधान था।
 - (ङ.) इसकी अन्तिम धारा में सन्धि के अंग्रेजी तथा रूसी भाषा के दोनों रूपों को समान मान्यता दी गई।

इस सन्धि का प्रमुख दोष यह था कि भूगर्भ-परीक्षणों पर यह सन्धि चुप थी। फिर भी धीरे-धीरे 108 देशों ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया और यह एक व्यापक कार्यक्रम बन गई। इसे निःशस्त्रीकरण की एक अच्छी शुरुआत व युगान्तरकारी घटना कहा जा सकता है। क्योंकि इस सन्धि ने निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में तेजी ला दी और सभी देश निःशस्त्रीकरण का महत्व समझने लग गए।
13. **निःशस्त्रीकरण आयोग सम्मेलन** – 1963 की समिति परमाणु प्रतिबंध सन्धि ने निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम को बढ़ावा देने के लिए 21 जनवरी, 1964 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक हुई। इसमें कहा गया कि सामरिक महत्व के शस्त्रास्त्रों के विकास को रोका जाए, उनका उत्पादन बन्द किया जाए यूरोप तथा

अन्य देशों में अणु-रहित क्षेत्रों का विकास किया जाए, अनाक्रमण समझौते हों, बमवर्षक विमान नष्ट किए जाएं तथा भूमिगत परमाणु परीक्षण भी रोके जाए। लेकिन महाशक्तियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की भावना के चलते इन प्रस्तावों को भी अस्वीकार कर दिया गया।

- 14. बाह्य आकाशी सन्धि-** 1966 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए बाहरी अन्तरिक्ष प्रयोग सम्बन्धी एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने बाहरी आकाश में परमाणु शस्त्रों को भेजना निषिद्ध मान लिया। इस सन्धि की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं-

(क) अन्तरिक्ष अन्वेषण का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किया जाएगा।

(ख) अन्तरिक्ष की गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को केन्द्र बनाया जाए।

(ग) अन्तरिक्ष कार्यक्रम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाया जाए।

इस सन्धि को दोनों महाशक्तियों ने मान लिया और आकाश में परीक्षण करने की योजना को नकारने वाली बात स्वीकार कर ली।

- 15. परमाणु अप्रसार-सन्धि-** सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच 1968 में यह सन्धि हुई। इस सन्धि का उद्देश्य विश्व को बढ़ते परमाणु शस्त्रों के खतरे से बचाना था। इसलिए 24 अप्रैल, 1968 को महासभा का एक विशेष अधिवेशन इस सन्धि पर विचार करने के लिए बुलाया गया। पहली बार दोनों महाशक्तियों ने इस सन्धि को सर्वसहमति से स्वीकार किया। परमाणु अस्त्र-अप्रसार सन्धि (Nuclear Non-Proliferation Treaty) की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीं-

(क) परमाणु शक्ति सम्पन्न देश गैर परमाणु शक्ति वाले देशों को परमाणु शस्त्र बनाने वाली परमाणु तकनीकी का रहस्य नहीं देंगे।

(ख) परमाणु शक्ति का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाली तकनीक का ज्ञान हस्तांतरिक किया जा सकता है।

(ग) परमाणु शक्ति से हीन राष्ट्रों को अपने परमाणु संस्थानों के निरीक्षण का अधिकार अंतर्राष्ट्रीय शांति आयोग को देना स्वीकार किया।

(घ) सम्भावित परमाणु शक्ति वाले देश परमाणु ऊर्जा का प्रयोग अपने आर्थिक विकास तथा अन्य असैनिक कार्यों के लिए कर सकते हैं।

अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद अनेक देशों ने हस्ताक्षर कर दिए। लेकिन भारत, अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि इन देशों ने इस सन्धि को पक्षपातपूर्ण माना। यह सन्धि निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य वास्तविक हल नहीं थी। इस सन्धि में न तो नए परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर रोक लगाई गई थी और न ही परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु अनुसंधान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था थी। यह सन्धि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के हितों की पोषक थी। इसका अन्तिम लक्ष्य गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को परमाणु शक्ति बनने से रोकना था। फ्रांस व चीन ने भी इस सन्धि को अपने राष्ट्रीय हितों के खिलाफ मानते हुए हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। इसी तरह कुछ अन्य देशों ने भी इसके पक्षपातपूर्ण स्वरूप के कारण अमान्य कर दिया। इस प्रकार अनेक देशों ने इसे अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा 'परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार' की भावना का पोषक कहा। अतः निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य उपाय प्रस्तुत नहीं कर सका।

- 16. समुद्री तल सन्धि—** 7 दिसम्बर, 1970 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि महासमुद्रों को परमाणु शस्त्रों से मुक्त रखा गया। इस प्रस्ताव को असली जामा पहनाने के लिए 11 फरवरी, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ व ब्रिटेन ने क्रमशः वॉशिंगटन, मास्को तथा लन्दन में हस्ताक्षर किए। इस सन्धि द्वारा यह प्रावधान किया गया कि किसी भी राष्ट्र के समुद्र तट से 19 किलोमीटर तक के क्षेत्रीय जल को छोड़कर महासागरों के किसी भी अन्य हिस्से में परमाणु शस्त्र व उनके वाहक प्रक्षेपास्त्र तैनात न किए जाएं। किन्तु इसमें परमाणु शस्त्रों से लदी हुई पनडुब्बियों व युद्धपोतों को मुक्त रखा गया। इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्ता देशों ने समुद्री तल, महासागरीय तल तथा उपधरती पर किसी भी तरह के जनसंहारक शस्त्रों व परमाणु शस्त्रों के विस्तार पर रोक लगाने की बात स्वीकार की। और यह सन्धि 18 मई, 1972 को लागू हो गई। लेकिन परमाणु शस्त्रों से लैस पनडुब्बियों व युद्धपोतों को इस सन्धि की व्यवस्थाओं से मुक्त रखने के कारण यह महत्वहीन हो गई।
- 17. जैविक शस्त्र समझौता —** 10 अप्रैल, 1972 को अमेरिका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ ने जीवाणु शस्त्रों के उत्पादन, संग्रह तथा उनके प्रयोग पर रोक लगाने के लिए आपस में समझौता किया। इस समझौते के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि वे ऐसे अस्त्रों का न तो निर्माण करेंगे और न ही प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। यह समझौता 26 मार्च, 1975 को लागू हो गया। इस समझौते के अनुसार नशीले पदार्थों, शस्त्रों, उपकरणों तथा वाहकों को नष्ट करने या उन्हें शांतिपूर्ण उद्देश्य की तरफ मोड़ने का निर्णय लिया गया।
- 18. सामरिक अस्त परिसीमतन समझौते (SALT-I,II)** अमेरिका और सोवियत संघ के बीच 3 जुलाई, 1974 को प्रथम दस वर्षीय आणविक आयुद्ध परिसीमन समझौता हुआ और इसे 31 मार्च, 1976 को लागू करने की बात पर सहमति हुई। इसके अनुसार 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परिक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नई सीमा लगाने का निर्णय हुआ। शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोटों को इसकी परिधि से बाहर रखा गया। इसका उद्देश्य परमाणु युद्ध की सम्भावना को कम करना था। इसके बाद 1979 में सोवियत संघ तथा अमेरिका ने दूसरा साल्ट समझौता किया। इस समझौते का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था। लेकिन अफगानिस्तान संकट ने इसे हानि पहुंचाई और इसका अनुमोदन स्थगित हो गया। यह समझौता 28 नवम्बर 1980 को साल्ट पर नवीन वार्ता शुरू होने पर नए सिरे से लागू होने के कगार पर पहुंच गया। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने अपने सामरिक शस्त्रों को 5 वर्षों तक सीमित करने पर विचार किया ताकि निःशस्त्रीकरण को प्रभावी बनाया जा सके।
- 19. ब्रेजनेव योजना—** फरवरी, 1981 में सोवियत नेता ब्रेजनेव ने अपनी 8 सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। उसने कहा कि सोवियत संघ अमेरिका के साथ सार्थक शस्त्र नियंत्रण वार्ताओं का इच्छुक है। उसने नवीन पनडुब्बियों के विस्तार तथा आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों के विकास को रोकने पर अपनी सहमति दर्शाई। इस योजना का सर्वत्र स्वागत किया गया। लेकिन अमेरिका ने कोई उत्साहवर्धन प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसलिए यह योजना प्रभावी कार्यक्रम नहीं बन सकी।
- 20. चार—सूत्री रीगन प्रस्ताव—** अमेरिका ने ब्रेजनेव योजना के प्रत्युत्तर में अपना चार—सूत्री कार्यक्रम (फरवरी, 1981 में) प्रस्तुत किया। इसमें अमेरिका ने कहा कि सोवियत संघ अपने एस.एस. 5 व एस.एसए 20 प्रक्षेपास्त्र नष्ट कर दे तथा अमेरिका पर्शिग 2 तथा समकक्ष थल आधारित प्रक्षेपास्त्र तैनात न करे, सामरिक शस्त्रों में भारी कटौती करने के लिए वार्ताएँ करने लिए तैयार हो जाए। लेकिन सोवियत संघ ने इसे प्रचारकारी हथकंडा बताकर अस्वीकार कर दिया।
- 21. रीगम निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव —** मई, 1982 में अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों को सीमित करने के लिए सोवियत संघ को कुछ सुझाव दिए। रीगन प्रस्तावों में कहा गया कि दोनों देशों को

परस्तर परमाणु प्रक्षेपास्त्र कम करने चाहिए और साथ ही भूमि तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों में कमी की जानी चाहिए। इसमें परस्पर 1/3 कटौती का प्रस्ताव पेश किया गया। लेकिन सोवियत संघ इसका सकारात्मक उत्तर न दिए जाने के कारण यह प्रस्ताव भी निरस्त हो गया।

22. **जेनेवा वार्ता का नया दौर** – 1983 में जेनेवा में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच START वार्ता के असफल रहने पर 1985 में फिर से नए सिरे से वार्ता करने पर सहमति हुई। दोनों देश फिर से शस्त्र दौड़ रोकने पर सहमत हो गए। सोवियत संघ अमेरिका ने स्पष्ट कहा कि वह न तो अपने स्टारवार कार्यक्रम को समाप्त करेगा और न उसमें ढील देगा। इस तरफ परस्पर आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच यह वार्ता 23 अप्रैल, 1985 को स्थगित हो गई।
23. **निःशस्त्रीकरण सम्मेलन नई दिल्ली** – 1985 में 6 देशों अर्जेन्टाइना, ग्रीस, स्वीडन, मास्को, तनजानिया तथा भारत का सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें परमाणु अस्त्र बनाने वाले देशों से आग्रह किया गया कि वे सभी परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाएं और परमाणु शस्त्र दौड़ को समाप्त करें। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।
24. **रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता** – नवम्बर 1985 में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने विश्व शांति बनाए रखने के लिए अंतरिक्ष में शस्त्र-दौड़ पर नियंत्रण करने तथा धरती पर इसे समाप्त करने के लक्ष्य पर जोर दिया। लेकिन यह वार्ता बिना किसी ठोस परिणाम के समाप्त हो गई।
25. **मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि** – 8 दिसम्बर, 1987 को अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा इस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। INF सन्धि के नाम से प्रसिद्ध इस सन्धि में यह व्यवस्था की गई कि दोनों पक्ष 500 से 5000 किमी. तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को तैनाती स्थानों से हटा लेंगे या नष्ट कर देंगे। इसमें अमेरिका द्वारा एक परमाणु बम युक्त 364 प्रक्षेपास्त्र तथा सोवियत संघ द्वारा 3-3 परमाणु बमों से युक्त 500 प्रक्षेपास्त्र हटाने पर सहमति हुई। इस सन्धि के अनुसार सोवियत संघ के एस.एस.12 तथा एस.एस.22 एवं अमेरिका के पर्शिग 2 प्रक्षेपास्त्र महासागरों पर दागकर नष्ट करने का निर्णय हुआ। इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए परस्पर निरीक्षण की सुविधा देने पर सहमत हो गए। इस सन्धि का सभी देशों ने स्वागत किया और निर्धारित अवधि में दोनों ने अपने प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट भी कर दिया। इस प्रकार यह सन्धि निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम था। इससे तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना कम हो गई।
26. **गोर्बाच्योव की घोषणा**– 7 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपनी सेनाओं में कटौती तथा पूर्वी यूरोप में अपने परमपरागत शस्त्रों में कटौती की एक पक्षीय घोषणा की। यह सोवियत संघ की तरफ से निःशस्त्रीकरण के लिए उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से लेकर शीत युद्ध की समाप्ति तक निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रयास किए गए। इनमें से कुछ प्रयास सफल भी रहे। लेकिन कोई ऐसा प्रभावी कार्यक्रम तैयार नहीं हो सका जो तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना को पूर्णतया नष्ट कर सके। 1989 के अन्त में सोवियत संघ के विघटन ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नए सिरे से स्थापित करने के विचार को प्रबल बना दिया। इस समय अनेक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र जन्म ले चुके थे। अमेरिका को सोवियत संघ की चुनौती से अब अधिक सावधान रहने की आवश्यकता नहीं रही। अब चीन व भारत परमाणु शक्ति सम्पन्न एशियाई देशों के रूप में उभरने लगे। नई चुनौती का सामना करने के लिए अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ अपना निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम जारी रखना आवश्यक समझा और शीत युद्ध के बाद भी निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की बागडोर अमेरिका के ही हाथ में रही।

15.5.4 शीतयुद्ध के अंत से वर्तमान समय तक

शीत युद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में किए गए प्रयास निम्नलिखित थे—

1. **वॉशिंगटन शिखर-सम्मेलन—** सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव तथा अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के बीच शीत युद्ध के अन्त के बाद यह पहला सम्मेलन जून 1990 में वॉशिंगटन में हुआ। इसमें रसायनिक शस्त्रों सहित शस्त्र नियंत्रण पर एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ। दोनों देशों ने अपने-अपने शस्त्र भंडारों में से 5000 टन कम करने तथा हजारों टन विध्वंसक सामग्री नष्ट करने पर सहमति जताई। इसकी अवधि 1992 से 2000 तक रखी गई। इसमें रासायनिक शस्त्रों पर तुरन्त रोक लगा दी गई। इस सम्मेलन में 'सामरिक शस्त्र कटौती सन्धि' START को संचालित करने वाले कुछ नियमों पर भी समझौता हुआ। इस प्रकार शीत युद्ध के बाद यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण का प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था।
2. **पेरिस वार्ता** —19 नवम्बर, 1990 को वारसा तथा नाटो के देशों ने परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने के उद्देश्य से पेरिस में एक सम्मेलन बुलाया। इसमें टैंकों, तोपों, सैनिक सशस्त्र वाहनों को नष्ट करने का निर्णय लिया गया। इसमें टैंकों की 20,000 सैनिक सशस्त्र वाहन 30,000 लड़ाकू हवाई जहाज 6800 तथा हेलीकॉप्टर 2000 की संख्या तक निश्चित की गई। इस वार्ता ने एक ऐसा वातारण तैयार किया कि निःशस्त्रीकरण के प्रयास पहले की तुलना में अब अधिक सफल दिखाई देने लगे।
3. **सामरिक शस्त्रों में कटौती की ऐतिहासिक सन्धि (START-I)**— सामरिक शस्त्रों पर कटौती की प्रक्रिया जो SALT-II के दौरान निष्क्रिय हो गई थी। अब START-I के माध्यम से पुनर्जीवित हो उठी। इस सन्धि द्वारा सोवियत संघ तथा अमेरिका ने अपने-अपने परमाणु शस्त्रों में से 30 प्रतिशत कटौती करने पर सहमति प्रकट की। सोवियत संघ ने 11000 से 7000 तथा अमेरिका ने 12000 से 9000 तक शस्त्र कटौती करना स्वीकार किया। यह पहला औपचारिक प्रयास था जिसके अंतर्गत दोनों महाशक्तियों ने स्वेच्छा से घातक हथियारों में कटौती करना स्वीकार किया।
4. **जॉर्ज बुश की निःशस्त्रीकरण घोषणा**— 28 सितम्बर, 1991 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण की घोषणा की। उसने अपनी इस योजना में कहा।
 - (क) जहाजों और पनडुब्बियों से छोड़ी जाने वाली सभी समुद्री परमाणु मिसाइलें समाप्त हों।
 - (ख) कम दूरी तक मारक क्षमता रखने वाले सभी सामरिक परमाणु शस्त्रों को नष्ट करना।
 - (ग) बी-52 तथा अन्य बम वर्षकों को निष्क्रिय करना।
 - (घ) स्टार्ट सन्धि को क्रियान्वित करना।
 इस प्रकार अमेरिका ने अपने एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण के इस कदम द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आशावान बना दिया कि अब तीसरे विश्व युद्ध का कोई खतरा नहीं है। उसने अपने परमाणु हथियारों को नष्ट करने की एक तरफा घोषणा करके सम्पूर्ण विश्व को चौंका दिया। उसके इस कदम ने सोवियत संघ को भी शस्त्र कटौती के लिए प्रेरित किया।
5. **गोर्बाच्योव की घोषणा** — अमेरिका के द्वारा शस्त्र कटौती के सकारात्मक प्रयास का सोवियत संघ ने भी सकारात्मक उत्तर दिया। उसने अपनी सभी परमाणु मिसाइलों को जल्दी हटाने की घोषणा की। उसने अपनी सशस्त्र सेनाओं में 200000 तक कटौती करने तथा 2000 परमाणु अस्त्रों को कम करने की घोषणा की। उसने कहा कि — (I) जंगी जहाजों और बहुउद्देश्यीय पनडुब्बियों से सभी सामरिक शस्त्रों को दूर कर

लिया जाएगा। (II) परमाणु शस्त्रों का भंडारण कम किया जाएगा (III) सामरिक महत्व के खतरनाक शस्त्रों में भी कटौती की जाएगी। इस प्रकार सोवियत संघ की इस घोषणा को सभी देशों ने सराहा। इसलिए यह घोषणा स्वैच्छिक निःशस्त्रीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रयास थी।

6. **स्टार्ट-II संधि** – 3 जनवरी, 1993 को अमेरिका और सोवियत संघ के बीच निःशस्त्रीकरण के लिए स्टार्ट-II संधि पर हस्ताक्षर किए। यह 1991 की START-I संधि के विकास का अगला प्रयास थी। इस संधि के द्वारा दोनों देश अपने शस्त्रों में व्यापक कटौती करने पर सहमत हो गए। 2/3 कटौती के तहत दोनों देश अपने परमाणु शस्त्रों को 6500 तक रखने पर सहमत हो गए। इसमें समुद्र तक के नीचे वाली विध्वंसक मिसाइलों की संख्या 1700 से 1750 तक के लाने पर सहमति हुई। बमवर्षक जहाजों द्वारा ले जाने वाले परमाणु शस्त्रों की संख्या 750 से 1250 तक, भारी ICMBs पर शस्त्रों की संख्या 656 तक करने पर समझौता हुआ। इस तरह START-II संधि INF तथा START-I से भी अधिक व्यापक थी। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को काफी लाभ हुआ।
7. **रासायनिक हथियार निषेध संधि** – 13 अप्रैल, 1993 को 160 देशों ने पेरिस में इस ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर किए और यह 29 अप्रैल, 1997 से लागू हो गई। इस संधि के प्रारूप में रासायनिक शस्त्रों की खोज, विकास, भण्डारण व हस्तांतरण पर पूर्ण रोक की व्यवस्था की गई है। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने, 15 वर्ष तक अपने रासायनिक हथियारों को नष्ट करने की बात पर सहमति जताई है। रासायनिक शस्त्रों को नष्ट करने की दिशा में अमेरिका तथा रूस के सहयोग के बिना यह संधि अधिक प्रभावी नहीं हुई है। आज भी चोरी-छिपे अनेक देश रासायनिक हथियारों का निर्माण कर रहे हैं।
8. **अमेरिका तथा उत्तरी कोरिया के बीच परमाणु समझौता** – 21 अक्टूबर 1994 को अमेरिका और उत्तर कोरिया ने आपस में एक परमाणु समझौता किया। इस समझौते के अनुसार उत्तरी कोरिया अपने वर्तमान परमाणु कार्यक्रम को स्थगित करने तथा अपने परमाणु संस्थानों की जांच कराने पर सहमत हो गया। इस समझौते ने विश्व शांति के विचार को मजबूत आधार प्रदान किया। इससे निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की प्रक्रिया में तेजी आई।
9. **व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि (Comprehensive Test Ban Treaty)**— CTBT के नाम से प्रसिद्ध यह ऐतिहासिक संधि 11 सितम्बर, 1998 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा भारी बहुमत से पारित कर दी गई। इस संधि के तहत परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाई गई है। भेदभावपूर्ण होने के कारण भारत ने CTBT पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया और इसके प्रारूप में कुछ संशोधन करने की अपनी मांग दोहराई। पाकिस्तान ने भी कहा कि जब तक भारत इसे स्वीकार नहीं करेगा, वह भी CTBT पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। वीटो पावर प्राप्त पांचों देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए और अन्य देशों पर भी इस पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया। भारत का इससे चिन्तित होना स्वाभाविक था क्योंकि यह संधि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु संवर्धन पर कोई रोक नहीं लगाती। यदि इस संधि को सर्वसहमति का आधार प्राप्त हो जाएगा तो विकसित परमाणु शक्ति सम्पन्न देश विकासशील देशों पर अपना परमाणु साम्राज्यवाद थोपने में सक्षम हो सकते हैं। इसकी समीक्षा करने के लिए वियना सम्मेलन (1999) में भारत ने भाग नहीं लिया। इस समय तक 154 देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए थे और 45 ने इसकी पुष्टि कर दी थी। लेकिन अभी भी कुछ परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा इसकी पुष्टि होना शेष है। भारत की चिन्ता स्वाभाविक है। यदि इसको मान लिया जाए तो परमाणु विहीन देश परमाणु शस्त्र नहीं बना सकेंगे और न ही परमाणु तकनीक का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग कर सकेंगे। इसलिए पक्षपातपूर्ण होने के कारण विकासशील परमाणु शक्ति सम्पन्न देश भी इस संधि पर हस्ताक्षर करने में आनाकानी कर रहे हैं।

इसलिए इसकी विश्वसनीयता व प्रभावशीलता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है।

10. **परमाणु कचरा सन्धि**— 1997 में परमाणु कचरे के बारे में कुछ नियमों का निर्धारण करने के लिए इस संधि पर हस्ताक्षर किए गए। भारत ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया लेकिन दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान तथा न्यूजीलैंड ने इसका विरोध किया। इस सन्धि के अनुसार जिस देश में परमाणु विस्फोट होगा, वही देश परमाणु कचरे का निपटान करेगा।
11. **परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव** — संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 8 दिसम्बर, 1998 को परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव पास किया। इसमें परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों से अणु-युद्ध की सम्भावनाओं को कम करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया गया। इसमें परमाणु अप्रसार को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। इसमें परमाणु परीक्षण न करने तथा परमाणु तकनीकी के विकास पर रोक लगाने की बात भी कही गई। इस प्रस्ताव में मौजूदा परमाणु शस्त्रों के भण्डारों पर चिन्ता व्यक्त की गई।
12. मई 2000 में सम्पन्न हुए परमाणु अप्रसार सन्धि समीक्षा सम्मेलन में भी पांच परमाणु शक्ति सम्पन्न वीटो पावर वाले देशों ने परमाणु शस्त्रों में कटौती की घोषणा की। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को अधिक बल मिला है।
13. मई, 2002 में अमेरिक और रूस के बीच हुई परमाणु शस्त्र कटौती संधि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस सन्धि के अनुसार 2012 तक परमाणु शस्त्रों में कटौती का लक्ष्य पूरा किया जाना है।

15.6 सारांश

इस प्रकार राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने वाले बराबर प्रयास किए जाते रहे हैं। शीतयुद्ध में शिथिलता के दौरान तो निःशस्त्रीकरण के प्रयास अधिक प्रभावी रहे हैं। लेकिन आज भी विश्व के अनेक देशों में अन्धाधुन्ध शस्त्र प्रतिस्पर्धा का दौर जारी है। आज परमाणु शस्त्रों के युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को असुरक्षित महसूस करता है और आर्थिक साधनों के अभावों के बावजूद भी परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की पंक्ति में शामिल होना चाहता है। आज परस्पर असुरक्षा के वातावरण में प्रत्येक राष्ट्र शास्त्र-दौड़ में आगे रहना चाहता है। दो विश्वयुद्धों ने शस्त्र दौड़ को अत्यधिक बढ़ाया है। तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना ने इसमें अप्रत्याशित वृद्धि की है। विकासशील देश पारस्परिक मतभेदों का शिकार होने के कारण क्षेत्रीय शान्ति को सबसे बड़ी चुनौती दे रहे हैं। आज आतंक का संतुलन है कोई भी अपने को सुरक्षित नहीं मानता है। प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों की घातक मारक क्षमता से अच्छी तरह परिचित है, फिर भी वह शस्त्रदौड़ में पीछे नहीं हटना चाहता। विश्व जनमत के निःशस्त्रीकरण के पक्ष में होने के बावजूद भी शस्त्र-प्रतिस्पर्धा शस्त्र नियंत्रण या निःशस्त्रीकरण पर हावी है। परमाणु युद्ध का भय अनियन्त्रित शस्त्र दौड़ को बढ़ावा दे रहा है। आज विश्व के विकसित व परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम में अपनी सकारात्मक व पक्षपात विहीन भूमिका निभाने की आवश्यकता है ताकि भय मुक्त विश्व समाज की स्थापना की जा सके और आतंक के संयुक्त के स्थान पर शांति का वातावरण हो।

15.7 प्रश्नावली

1. शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण से आपका क्या अभिप्राय है? निःशस्त्रीकरण के विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए।
2. वर्तमान युग में निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का वर्णन कीजिए।
3. निःशस्त्रीकरण हेतु शीतयुद्ध काल में किए गए प्रयासों का आलोचनात्मक वर्णन करें।

4. शीतयुद्धोत्तर युग में निःशस्त्रीकरण हेतु किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आजतक परम्परागत हथियारों की होड़ को रोकने के प्रयासों की चर्चा करें।
6. सन् 1945 से 1998 तक परमाणु हथियारों के प्रयास को क्या करने वाले समझौतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।
7. समसामयिक समय में हथियारों की होड़ में कमी आने वाली प्रवृत्तियों का आंकलन कीजिए।

15.8 पाठन सामग्री,

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्योरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमिंत एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

भारत की विदेश नीति

अध्याय का ढांचा

16.1 प्रस्तावना

16.1.1 अध्याय के उद्देश्य

16.2 विदेश नीति क्या है?

16.3 ऐतिहासिक दृष्टभूमि

16.4 उद्देश्य

16.4.1 प्रमुख उद्देश्य

16.4.2 अन्य उद्देश्य

16.5 सिद्धान्त

16.5.1 प्रमुख सिद्धान्त

16.5.2 अन्य सिद्धान्त

16.6 विदेश नीति की विशेषताएँ

16.6.1 गुटनिरपेक्षता की नीति

16.6.2 पंचशील को अपनाना

16.6.3 शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में आस्था

16.6.4 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं रंगभेद का विरोध

16.6.5 निरस्त्रीकरण स्थापित करना

16.6.6 नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की पक्षधर

16.6.7 संयुक्त राष्ट्र में निष्ठा

16.6.8 विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने का पक्षधर

16.7 सारांश

16.8 प्रश्नावली

16.9 पाठन सामग्री

16.1 प्रस्तावना

किसी भी देश की विदेश नीति राज्यों के मध्य संबंध स्थापित करने का माध्यम होता है। इस प्रकार सभी राज्य विश्व के अन्य राज्यों से आदान-प्रदान करते हैं। लेकिन इस नीति के पीछे सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित छिपे होते हैं लेकिन दूरगामी दृष्टि एवं निरन्तरता हेतु प्रत्येक राष्ट्र इन हितों की पूर्ति कुछ सिद्धान्तों एवं उद्देश्य के माध्यम से करता है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। स्वतन्त्र भारत ने भी अपने तीन प्रमुखों हितों राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास एवं अनुकूल विश्व व्यवस्था हेतु गुटनिरपेक्षता एवं पंचशील के सिद्धान्तों की विदेश नीति का अचरण किया। क्योंकि विदेश नीति हमेशा गत्यात्मक होती है जो आन्तरिक व बाह्य कारकों के बदलाव स्वरूप बदल जाती है। इसीलिए शीतयुद्धोत्तर युग में आये बदलाओं के परिणाम स्वरूप भारत ने भी अपनी विदेश नीति में उपरोक्त सिद्धान्तों की जगह यथार्थवाद की नीति अपना कर अपने को शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रदर्शित किया है। उसी अनुरूप शीतयुद्ध युगीन दृष्टिकोणों को त्याग कर नये समीकरणों को अपनाया है।

16.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से विदेश नीति क्या है? भारत में इसका विकास कैसे हुआ, भारत की विदेश नीति के सिद्धान्त व उद्देश्य क्या हैं आदि बातों का वर्णन प्रस्तुत है। इसके साथ-साथ विदेश नीति की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त भारत की गुटनिरपेक्षता व पंचशील की नीतियों को अति विस्तार से प्रस्तुत किया गया। शीतयुद्धोत्तर युग में आये बदलाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों की चर्चा भी प्रस्तुत है।

भारत की विदेश नीति

16.2 विदेश नीति क्या है?

किसी भी देश की विदेश नीति मुख्य रूप से कुछ सिद्धान्तों, हितों एवं उद्देश्यों का समूह होता है जिनके माध्यम से वह राज्य दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध स्थापित करके उन सिद्धान्तों की पूर्ति हेतु कार्यरत रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्यों की अपनी विदेश नीति होती है जिसके माध्यम से वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने संबंधों का निरूपण करते हैं। विशेष रूप से सर्वप्रथम मॉडलस्की ने इसको परिभाषित करते हुए कहा था कि विदेश नीति समुदायों द्वारा विकसित उन क्रियाओं की व्यवस्था है जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को बदलने तथा उनकी गतिविधियों को अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में ढालने की कोशिश करता है। परन्तु विदेश नीति की इस प्रकार की परिभाषा को अति सरलीकरण माना जाएगा क्योंकि विदेश नीति का उद्देश्य मात्र दूसरों के व्यवहार का परिवर्तन मात्र नहीं हो सकता है। अपितु इसके माध्यम से दूसरे राज्यों की गतिविधियों का नियंत्रण करना भी अति आवश्यक होता है। इस प्रकार विदेश नीति में परिवर्तन के साथ-साथ कई बार निरन्तरता की आवश्यकता भी होती है। क्योंकि विदेशी नीति परिवर्तन एवं यथास्थिति दोनों प्रकार की नीतियों का समन्वय होता है। बल्कि फेलिम्स ग्रास तो इससे भी एक कदम आगे निकल जाते हैं जब वे कहते हैं कि कई बार किसी राज्य के साथ कोई संबंध न होना या उसके बारे में कोई निश्चित नीति न होना भी विदेश नीति कहलाता है। इस प्रकार विदेश नीति के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलू होते हैं। यह सकारात्मक रूप में जब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार का प्रयास करती है तथा नकारात्मक रूप में तब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार को परिवर्तित करने का प्रयास करती है।

अतः विदेश नीति उन सिद्धान्तों, हितों व उद्देश्यों के प्रति वचनबद्धता जिनके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में अपने संबंधों का निर्वाह करता है। इस संदर्भ में विदेश नीति पर निर्णय लेने के साथ-साथ इसका अन्य राज्यों के साथ संबंधों का वहन करना भी अति महत्वपूर्ण हो जाता है। लेकिन इस प्रकार के व्यवहार के समय राज्य को अपने लाभ-हानि अर्थात् संसाधन एवं जोखिम दोनों का मूल्यांकन भी कर लेना चाहिए।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि विदेश नीति एवं राष्ट्रीय हितों के बीच एक गहन संबंध होता है। राष्ट्रहित विभिन्न संदर्भों में विदेश नीति हेतु आवश्यक भूमिका निभाते हैं— **प्रथम**, ये विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के संदर्भ में सामान्य अभिविन्यास प्रदान करते हैं। **द्वितीय**, ये निकट भविष्य की स्थिति में विदेश नीति को नियंत्रण करने वाले मापदण्डों का विकल्प प्रदान करते हैं। **तृतीय**, राष्ट्रीय हित विदेश नीति को निरंतरता प्रदान करते हैं। **चतुर्थ**, इन्हीं के आधार पर विदेश नीति बदलते हुए अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप में अपने आपको ढालने में सक्षम हो सकती है। **पंचम**, राष्ट्रीय हित विदेश नीति को मजबूत आधार प्रदान करते हैं क्योंकि ये समाज के समन्वय एवं सर्वसम्मति पर आधारित मूल्यों की अभिव्यक्ति होते हैं। अन्ततः ये विदेशी नीति हेतु दिशा निर्देशन का कार्य करते हैं।

16.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी देश की विदेश नीति एक विशिष्ट आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण के स्वरूप द्वारा काफी हद तक निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त उसका इतिहास, विरासत, व्यक्तित्व, विचार धाराएँ, विभिन्न संरचनाओं आदि का प्रभाव भी उस पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारत भी इस स्थिति का अपवाद नहीं है। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्यों के निर्धारण एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी इन्हीं बहुमुखी तत्त्वों का योगदान रहा है। अतः भारत की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को सही दिशा में समझने हेतु इसके ऐतिहासिक संदर्भ का अध्ययन करना अनिवार्य है। क्योंकि इस पृष्ठभूमि का विदेश नीति पर गहरा प्रभाव होता है। इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने उचित ही कहा था कि यह नहीं समझना चाहिए कि भारत ने एकदम नये राज्य के रूप में कार्य प्रारम्भ किया है। इसकी नीतियाँ हमारे भूत व वर्तमान इतिहास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास तथा इनके द्वारा अभिव्यक्त विभिन्न आदर्शों पर आधारित हैं।

इसलिए भारत की विदेश नीति का समझ एवं आंकलन हेतु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं स्वाधीनता संग्राम के इतिहास पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक बन पड़ा है। इस काल में होने वाले घटनाक्रमों के आधार पर ही स्वतंत्र भारत की विदेश नीति का विकास हुआ। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की जड़ें उन प्रस्तावों व नीतियों में ढूँढी जा सकती हैं जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी स्थापना के पश्चात् के 62 वर्षों (1885–1947) में महत्वपूर्ण विदेश नीति के विषयों पर अपनाई थी। यह सत्य है कि पराधीन भारत की विदेश नीति का निर्माण 1885 में स्थापित इंडिया हाउस, लंदन में होता था। अग्रेंज अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन फिर भी भारत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में 'अंतर्राष्ट्रीय व्यक्ति' का दर्जा प्राप्त कर चुका था तथा कई विषयों पर कांग्रेस की प्रतिक्रियाओं के सकारात्मक परिणाम ही नहीं निकले, अपितु स्वतंत्र भारत की नीतियों हेतु ठोस आधार भी तैयार हो गया था। इसी आधार पर पराधीन भारत को अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत को भागीदारी प्राप्त होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप ही भारत संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था का 1945 में प्रारम्भिक सदस्य बन सका।

इसके अतिरिक्त, समय-समय पर राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अभिव्यक्त विचारों ने भारतीय विदेश नीति के मुख्य आधारों की स्थापना की। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा विभिन्न प्रस्तावों एवं प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप विभिन्न सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई 1. भारतीय कांग्रेस द्वारा सदैव साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का खंडन करना बाद के वर्षों में भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का भी प्रमुख लक्ष्य रहा 2. भारतीय कांग्रेस द्वारा स्वयं को समय-समय पर इंग्लैंड की विदेश नीतियों से असमबद्ध घोषित करने के कारण बाद के वर्षों में भी अपने आपको महाशक्तियों के हितों से अपने को अलग रखने में सक्षम रहा, 3. मुस्लिम राष्ट्रों से सहयोग की नीतियों के कारण स्वतंत्र भारत ने भी हमेंशा अबर राष्ट्रों का ही साथ दिया, 4. कांग्रेस द्वारा एशियाई एवं पिछड़े राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति के कारण स्वतंत्र भारत में भी अफ्रीकी व एशियाई राष्ट्रों के समर्थन की नीति अपनाई तथा 5. विदेश नीति की स्थापना व निर्माण के संदर्भ में भी राष्ट्रीय कांग्रेस की पहल को ही आगे बढ़ाया। अतः यह

कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भारत की विदेश नीति निर्धारण में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति पर ब्रिटिश विरासत, स्वाधीनता संग्राम के अनुभवों, राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिक्रियाओं, स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्व आदि का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इन्हीं प्रयासों एवं बदली हुई राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तथा अन्य नीति निर्धारक तत्वों ने स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया है।

16.4 उद्देश्य

प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु विदेश नीति के उद्देश्य तय करते हैं। भारत की विदेश नीति ने भी अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप विभिन्न उद्देश्य निर्धारित किए हैं। भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है— (क) प्रमुख उद्देश्य; तथा, (ख) अन्य उद्देश्य। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है।

16.4.1 प्रमुख उद्देश्य

1. राष्ट्रीय सुरक्षा
2. आर्थिक विकास
3. उपयुक्त विश्वव्यवस्था

16.4.2 अन्य उद्देश्य

1. उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व रंगभेद का विरोध
2. निरस्त्रीकरण का समर्थक
3. एशिया में महत्वपूर्ण भूमिका
4. अफ्रो-एशियाई क्षेत्रीय सहयोग
5. संयुक्त राष्ट्र में आस्था
6. सभी राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण संबंध
7. भारतीय मूल एवं प्रवासी भारतीयों की रक्षा

16.5 सिद्धान्त

भारत ने विदेश नीति के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कुछ सिद्धान्तों का पालन किया है। सिद्धान्त न केवल विदेश नीति के तर्क संगत विश्लेषण में सहायक होते हैं, बल्कि नीति को निरंतरता भी प्रदान करते हैं। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलन के अनुभवों एवं स्वतंत्र भारत के समक्ष विश्व की उभरती स्थिति ने मुख्य रूप से भारत की विश्व नीति के सिद्धान्तों की उत्पत्ति की है।

भारतीय विदेश नीति के सिद्धान्तों को भी दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो निम्न प्रकार से हैं—

16.5.1 प्रमुख सिद्धान्त

1. गुटनिरपेक्षता
2. पंचशील

16.5.2 अन्य सिद्धान्त

1. यथार्थवाद
2. गत्यात्मकता एवं अनुरूपता
3. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

16.6 विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ

पिछले 56 वर्षों के इतिहास पर नजर डालने से भारत की विदेश नीति की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से उजागर होती हैं।

16.6.1 गुटनिरपेक्षता की नीति

भारत की विदेश नीति का सबसे महत्वपूर्ण पहलू एवं केन्द्रबिन्दू है। इसकी घोषणा स्वतंत्रता से पूर्व ही अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रथम रेडियो भाषण के रूप में 7 सितम्बर 1946 को ही कर दी थी। इस विदेश नीति को अपनाने के दो प्रमुख स्रोत रहे हैं— भौतिक तत्त्व एवं गैर-भौतिक तत्त्व। भौतिक तत्त्वों में प्रमुख रूप से भारत की तत्कालिक भू-राजनैतिक स्थिति एवं आर्थिक स्थिति महत्वपूर्ण रहे हैं। गैर-भौतिक तत्त्वों में भारत की ऐतिहासिक विरासत भारतीय दर्शन एवं परम्पराएँ प्रभावी रहे हैं।

इसके बारे में विस्तारपूर्वक जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता क्या है? सामान्य रूप से इसे सैन्य गठबन्धनों से अलग रहने की नीति मानते हैं। परन्तु यह विदेश नीति बहुत व्यापक एवं गतिशील है। अतः यह उपरोक्त से कहीं अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है। इस नीति के दो सकारात्मक एवं नकारात्मक — पहलू हैं। नकारात्मक रूप में इसे 1. सैन्य गुटों या शीतयुद्ध गुटबन्धियों से अलग रहना; तथा 2. सैन्य गठबन्धनों में शामिल न होने की नीति माना जा सकता है। सकारात्मक रूप में इसे 1. विश्व शान्ति स्थापित करने; 2. उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद आदि समाप्त करने; 3. विश्व में स्वतंत्रता का प्रसार करने; 4. सभी राष्ट्रों के मध्य सहयोग विकसित करने; तथा 5. नव-स्वतंत्र राष्ट्रों की सहायता करने की नीति माना जा सकता है।

गुटनिरपेक्षता की नीति को लेकर विदेशी विशेषज्ञों के मन में कई भ्रांतियाँ थी। शायद इसलिए उन्होंने नेहरू के आशयों पर विश्वास करने के बजाय इसे अन्य विदेश नीतियों जैसे अलगाववाद, गैर-सम्बद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकलवाद, अहिस्सेदारी आदि धारणाओं के समकक्ष माना। लेकिन नेहरू ने उनके इन विचारों का खण्डन करते हुए स्पष्टीकरण दिए। उनका कहना था कि जहां तक 'तटस्थता' व 'तटस्थीकरण' का प्रश्न है ये दोनों ही धारणाएँ बहुत सीमित हैं, क्योंकि आज के सन्दर्भ में विश्व युद्धों से तटस्थ रहना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत गुटनिरपेक्ष देश को तो युद्ध में हिस्सा लेना पड़ सकता है यदि वह उसके हितों के विरुद्ध है। इसलिए जहां स्वतंत्रता, न्याय अथवा युद्ध होंगे वहां भारत तटस्थ नहीं रह सकता। इसी प्रकार 'अलगाववाद' के विषय में नेहरू का मानना था कि सैन्य गुटबन्धियों में हिस्सा न लेना अलगाववाद नहीं है। कई लेखकों ने इसे 'तीसरी शक्ति' के रूप में भी माना है। परन्तु यह नीति दोनों गुटों के बीच टकराव या संघर्ष की नीति न होकर अन्ततः एक विश्व व्यवस्था की कामना करती है अतः यह तीसरी शक्ति भी नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण थे कि भारत ने इसे नीति का अनुसरण किया तथा इसके भारत हेतु क्या परिणाम निकले। भारत की स्वतंत्रता के समय की स्थिति व बाद के अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को देखने से ज्ञात होता है कि इस नीति को अपनाने हेतु निम्नलिखित बहुमुखी कारण थे—

1. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व रंगभेद के विरुद्ध एक लम्बा संघर्ष था

इसलिए आजादी के बाद भारत का इन मुद्दों के विरुद्ध लड़ना अनिवार्य था। इस प्रकार का संघर्ष भारत विश्व सैन्य गुटों से अलग रहकर एक स्वतंत्र विदेश नीति के द्वारा ही कर सकता था।

2. भारत की भू-राजनैतिक व्यवस्था के फलस्वरूप इसे इस नीति को अपनाना पड़ा। भारत के निकट पड़ोस में दो साम्यवादी ताकतों (सोवियत संघ व चीन) का होना तथा भारत के पड़ोसी देश के साथ सीमा विवाद को लेकर भारत किसी भी गुट बन्धन से अलग रहना चाहता था
3. भारत की उस समय की आर्थिक एवं सैन्य क्षमता तथा भविष्य में भारत की आर्थिक विकास की इच्छाओं के कारण भी उसे विश्व के सभी देशों से पूंजीनिवेश, आर्थिक सहायता, व्यापार आदि की बहुत आवश्यकता थी। अतः वह किसी एक गुट के साथ जुड़ना ज्यादा लाभप्रद नहीं मानता था।
4. विभिन्न देशों से जुड़ना एक यथार्थवादी पदृश्य भी था क्योंकि इससे भारत के पास अपने विकास के विभिन्न विकल्प उपलब्ध थे।
5. एक नव – स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत अब अपनी धरेलू एवं बाह्य नीतियों में किसी अन्य राष्ट्र का हस्तक्षेप पसंद नहीं करता था।
6. नेहरू का अपना व्यक्तित्व, नये राष्ट्र के समक्ष अपनी स्वतंत्र पहचान की चाह एवं विकास की बाध्यताओं के अनुरूप भी यही नीति अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुई।

उपरोक्त आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से अपनाई गई गुटनिरपेक्षता की नीति के भारत के लिए निम्न परिणाम देखने को मिले—

1. इसका अर्थ यह निकला कि भारत को अब अपनी नीति में सैन्य के स्थान पर विकास को वरीयता प्रदान करनी होगी। यह केवल आदर्शवादिता ही नहीं थी, अपितु अनिवार्यता थी।
2. भारत की आर्थिक सहायता की मांग को देखते हुए भी अब इसे विश्व में सैन्य खर्चों में कटौती तथा गैर-सैन्य तरीकों के द्वारा विश्व शान्ति हेतु प्रयास करना आवश्यक हो गया।
3. भारत को आर्थिक सहायता का स्वरूप भी अपने को दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर न बनाते हुए चुनना था। इसीलिए उसे सभी प्रमुख अर्थव्यवस्था से जुड़ना था। अतः इसकी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक एवं व्यक्तिपरक या निजी क्षेत्रों को बराबर स्थान देना आवश्यक था।
4. भारत की सुरक्षा मात्र सभी देशों से अच्छे संबंधों के कहने मात्र से आश्वस्त नहीं हो जाती है। इस दृष्टि से भारत का अपने राज्यों की रक्षा सामर्थ्य बढ़ाने की बजाए, राजनैतिक/राजनयिक विकल्पों पर जोर देने वाला बनना होगा।
5. शीतयुद्ध की प्रवृत्तियों के महत्वपूर्ण हो जाने से भारत को इन गठबंधनों से दूर रहते हुए विश्व शान्ति हेतु वैकल्पिक प्रयास करने होंगे।
6. परमाणु शक्ति के खतरों को देखते हुए भारत को निरस्त्रीकरण बढ़ाने हेतु प्रयास ही नहीं करने होंगे बल्कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रमुख परम्परा के रूप में विकसित करना होगा।

अतः जहां तक भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का प्रश्न है कि इसके माध्यम से नेहरू ने प्रमुख उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि इससे भारत स्वतंत्र विदेश नीति, गुटों से अलग रहना, विश्व शान्ति, आर्थिक विकास आदि प्राप्त करना चाहता है। इसके अतिरिक्त, भारत अपनी राष्ट्रीय गरिमा के साथ-साथ नवोदित राष्ट्रों की समस्या से भी अवगत था। अतः इस नीति के माध्यम से भारत उपनिवेशवाद,

साम्राज्यवाद तथा रंगभेद की नीतियों के भी विरुद्ध था। परन्तु भारत उपनिवेशवाद का शिकार होते हुए भी किसी के विरुद्ध स्थाई कट्टरता का रूख नहीं रखता था। अतः भारत ब्रिटेन, अमेरिका, चीन, पूर्व सोवियत संघ आदि सभी देशों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाते हुए अन्ततः शान्तिपूर्ण व सहअस्तित्व पर आधारित एक विश्व स्थापित करने की दिशा में आस्था रखता था।

भारत की सुरक्षा हेतु इस नीति के अन्तर्गत भारत ने सैनिक क्षमता या गुटबन्दी के स्थान पर राजनय को सशक्त माध्यम बनाया। परिणामस्वरूप एक ओर भारत ने दोनों महाशक्तियों से समान दूरी वाले संबंध विकसित करने के प्रयास किए, वहीं दूसरी ओर पड़ोसी राष्ट्रों से मित्रतापूर्वक संबंध बनाने की भरसक कोशिश की। भारत ने इस सन्दर्भ में प्रारम्भ से ही पाश्चात्य देशों (विशेषतौर पर) अमेरिका से मधुर संबंध बनाने के प्रयास किए परन्तु अमेरिका की नीतियों के कुछ प्रमुख विरोधाभाषों के कारण ऐसा संभव नहीं हो सका। पूर्व सोवियत संघ के साथ भी प्रारम्भ में थोड़ी सी दूरी बनी रही परन्तु शीघ्र ही दोनों के बीच घनिष्ठ संबंधों का विकास हुआ। 1970 के दशक तक आते-आते दोनों के बीच कुछ मुख्य मुद्दों को लेकर समान दृष्टिकोणों का विकास हुआ। ये मुद्दे थे— नवोदित राष्ट्रों की स्वतंत्रता का समर्थन, हिन्द महासागर में बढ़ते सैन्यीकरण का विरोध, तीसरी दुनिया के देशों का विकास, मुख्य तौर पर समाजवादी व्यवस्था में आस्था आदि। इसके बाद शीत युद्ध के अन्त के बाद रूस से संबंधों की निरन्तरता के साथ-साथ, अमेरिका से भी मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित कर लिए। पड़ोसियों के साथ भी पंचशील के ढाँचे के अन्तर्गत द्विपक्षीय एवं क्षेत्रीय आधार पर संबंधों को मजबूत बनाया। लेकिन कई कारणों से पाकिस्तान से समस्याओं के समाधान में अभी भी कड़वाहट बनी हुई है।

पिछले 56 वर्षों में गुटनिरपेक्षता की नीति की सफलताओं एवं असफलताओं का आंकलन करने से ज्ञात होता है कि इसके माध्यम से भारत को अपने हितों की पूर्ति में आंशिक सफलता प्राप्त हुई।

1. सर्वप्रथम, 1950 व 1960 के दशकों में इस नीति के आधार पर भारत कुछ मामलों में बहुत सफल रहा। उदाहरणस्वरूप, नव-स्वतंत्र राष्ट्रों की मांगों को अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उठाने के सन्दर्भ में भारत को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। परन्तु वहीं दूसरी ओर 1962 चीन व 1965 में पाकिस्तान युद्ध के समय गुटनिरपेक्ष देशों से समर्थन प्राप्त को लेकर भारत को घोर निराशा हुई। 1962 के युद्ध के समय कोई भी गुटनिरपेक्ष देश चीन को आक्रमणकारी कहने को राजी नहीं हुआ चीन व भारत के मामलों को सुलझाने सम्बन्धित पहल भी बहुत प्रभावी नहीं रही। 1965 के युद्ध के समय यह स्थिति और भी भयंकर सिद्ध हुई। गुटनिरपेक्ष राज्यों, द्वारा भारत को समर्थन तो दूर बल्कि कई देशों ने (मुख्य रूप से इंडोनेशिया) पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध लड़ने हेतु हथियार भी प्रदान किए। इस प्रकार इन दशकों में गुटनिरपेक्षता की नीति भारत को सुरक्षा प्रदान करने में विफल रही।
2. द्वितीय, परन्तु 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय इसी नीति का अनुसरण करते हुए भारत को अत्याधिक सफलता मिली। भारत केवल अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान से ही निपटने में सफल नहीं रहा, अपितु पाकिस्तान-चीन-अमेरिका त्रिगुट को भेदने में सफल रहा। भारत की इस सफलता का मुख्य केन्द्र बिन्दु पूर्व सोवियत संघ के साथ हस्ताक्षरित मित्रता एवं सहयोग की सन्धि को माना जाता है। लेकिन गुटनिरपेक्षता की नीति ने ही भारत को आवश्यक लचक प्रदान की जिससे वह अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप अपनी विदेश नीति को ढालने में सक्षम रहा।
3. भारत की विदेश नीति को सबसे महत्वपूर्ण चुनौती 1991 के बाद शीत युद्ध की समाप्ति के बाद हुए परिवर्तनों के अनुरूप अपने आपको ढालने की थी। भारत ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट की घड़ी में भी अपने हितों की उचित रक्षा की। गुटनिरपेक्ष के लचीलेपन के कारण ही भारत जहां एक ओर पूर्व

सोवियत संघ के हसयोग पर आश्रित अपनी स्थिति बदलकर अमेरिका से निकट सहयोग बनाने में सक्षम रहा वहीं दूसरी ओर भारत ने अपने को साम्यवादी देशों से विफल आर्थिक व व्यापारिक हितों को आशियान व पूर्वी एशिया के देशों से जोड़ने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, परमाणु अप्रसार, सीटी बीटी व प्रक्षेपास्त्रों के प्रतिबन्धों से निपटने तथा अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर आमसहमति विकसित करने में भी सफलता प्राप्त की। इस प्रकार शीतयुद्धोत्तर युग में नवीन समीकरणों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति में सफलता के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति द्वारा आवश्यक लचीलापन प्राप्त हुआ।

1. इस प्रकार गुटनिरपेक्षता की नीति ने विभिन्न क्षणों एवं चुनौतियों के सन्दर्भ में भारत को राजनयिक लचीलापन प्रदान किया है। ताकि यह अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने में सक्षम हो सके। यद्यपि प्रारम्भिक संकटों में इसके माध्यम से भारत को सफलता नहीं मिल सकी, परन्तु बाद के वर्षों में यह भारत के लिए अनुकूल साबित हुई। इसके अतिरिक्त, इस नीति के अग्रणीय नेता होने के कारण जवाहरलाल नेहरू अपने समान विचार रखने वाले नेताओं (नासिर, टीटो एवं सुकार्णो) के साथ इसे आन्दोलन का रूप देने में सफल रहे। इसीलिए इसे आन्दोलन के जनक के रूप मान्यता प्राप्त है। इसीलिए तीसरी दुनिया के देशों में भारत की छवि इन देशों को नेतृत्व प्रदान करने वाली भी बनी। इसके अतिरिक्त, भारत को विभिन्न देशों से आर्थिक सहायता, तकनीक, पूंजीनिवेश आदि प्राप्त होने से सहायता सिद्ध हुई। इस नीति के कारण ही भारत विश्व में शीतयुद्ध युगीन दोनों गुटों से समन्वय बनाने में सफल रहा। वर्तमान शीतयुद्धोत्तर में आवश्यक लचीलेपन की आवश्यकता की पूर्ति भी भारत को इसी नीति के माध्यम से रही। यद्यपि आज यह विवाद जारी है कि शीतयुद्धोत्तर युग के नवीन ध्रुवीकरण के कारण यह नीति निरर्थक बन गई है। परन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि गुटनिरपेक्षता की राष्ट्र की विदेश नीति एवं आन्दोलन दो अलग-अलग वस्तु हैं। तीसरी दुनिया के एक आन्दोलन के रूप में यह अवश्य शिथिल पड़ गया है, परन्तु एक राष्ट्र की विदेश नीति के रूप में यह हमेशा सार्थक रहेगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारत है जिसने विश्व में हुए विभिन्न उतार-चढ़ावों के बावजूद इस नीति के माध्यम से अपने हितों की सफलतापूर्वक पूर्ति की है।

16.6.2 पंचशील को अपनाना

भारतीय विदेश नीति में पंचशील की नीति इसके नैतिक एवं शान्ति स्थापना के मूल्यों का द्योतक है। पंचशील इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्त का ही भाग है। इसके माध्यम से भारत ने अपने पड़ोसियों से संबंधों के मापदण्डों की घोषणा की है। यह सिद्धान्त भारत के ही नहीं अपितु किन्हीं दो पड़ोसियों के आदर्श संबंधों के मापदण्ड भी कहे जा सकते हैं। जवाहरलाल नेहरू अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति को केवल कल्पना तक ही सीमित नहीं रखता चाहते थे, अपितु विश्व शान्ति स्थापना हेतु इसे व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करना चाहता थे। इसीलिए इस नीति के क्रियान्वन हेतु शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम 29 अप्रैल 1954 के भारत-चीन व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में प्रतिपादित किया गया। जिसे बाद में 28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई की भारत यात्रा के दौरान जारी संयुक्त घोषणापत्र में दोहराया गया। पंचशील के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता व सर्वोच्च सत्ता के लिए परस्पर सम्मान की भावना;
2. अनाक्रमण
3. परस्पर आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना
4. समानता व पारस्परिक लाभ, तथा
5. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

नेहरू के लिए यह सिद्धान्त मात्र भारत-चीन सहयोग तक ही सीमित नहीं था, अपितु यह भारत के संघर्षों का अन्त हो सकता है। पंचशील द्वारा, गुटनिरपेक्षता की भांति, नेहरू एशिया में 'शान्तिक्षेत्र' को बढ़ाना चाहते थे ताकि इसके अधिप्लावन प्रभावस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में शान्ति स्थापित हो सके। शायद यही कारण था कि इस सिद्धान्त को अफ्रो-एशियाई देशों के बाण्डुग (इन्डोनेशिया) सम्मेलन 1955 तथा 14 दिसम्बर 1959 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 82 देशों द्वारा इसे भारत की पहल पर स्वीकृत किया। इस प्रकार यह सिद्धान्त भारत द्वारा संघर्ष व युद्ध के विकल्प के रूप में चीन, अपने अन्य पड़ोसी राज्यों तथा विश्व राष्ट्रों हेतु शान्ति स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। यद्यपि 1962 के भारत-चीन युद्ध ने इसकी सफलता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया था, परन्तु भारत ने इसका अनुसरण करना नहीं छोड़ा। इसके विपरीत शीतयुद्धोत्तर भारत-चीन के सुधरते सम्बन्धों में इस सिद्धान्त को दोबारा व्यवहार में लाया जा रहा है। उदाहरणस्वरूप, 1988 के बाद इन दोनों देशों के सुधरते संबंधों के परिणामस्वरूप राजीव गाँधी (1988), पी०वी० नरसिम्हाराव (1993), के.आर. नारायणन (1999) तथा अटल बिहारी वाजपेयी (2003) की चीन यात्राओं तथा ली पेंग (1991), जियांग जमीन (1996), ली पेंग (2001) तथा झू रोंगजी (2002) की भारत यात्राओं के दौरान दोनों देशों ने पंचशील के सिद्धान्तों में फिर संयुक्त घोषणापत्रों के माध्यम से आस्था अभिव्यक्त की है।

16.6.3 शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में आस्था

भारत की विदेश नीति की एक अन्य विशेषता यह है कि वह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास रखती है। यद्यपि यह सिद्धान्त पंचशील का ही एक हिस्सा है, तथापि यह एक व्यापक अर्थ रखती है। व्यापक संदर्भ में यह भारत की 'जियो और जीने दो' की परम्परा का धोतक है। इस पंचशील से एक संदर्भ में अलग देखा जा सकता है, क्योंकि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व द्वारा विश्व में वैचारिक या अन्य किन्हीं आधारों पर स्थापित भेदभाव की मान्यता को अस्वीकार कर सभी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सैन्य गठबंधनों के संबंध में भी उनके गुट में भागीदारी न करते हुए भी अन्य क्षेत्रों में संबंध विकसित करने की मनाही नहीं है। शीतयुद्ध काल में साम्यवादी एवं पूंजीवादी गुटों की सैन्य नीतियों की आलोचना करते हुए भी सीमित स्तर तक आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी, सांस्कृतिक आदि संबंधों का विकास जारी रहा। इस प्रकार विश्व शान्ति व विकास की सभी प्रतिक्रियाओं में सभी राष्ट्रों से मित्रतापूर्वक एवं सद्भावना आधारित संबंधों पर बल दिया। शीतयुद्धोत्तर भी विभिन्न राज्यों से परमाणु अप्रसार, भावी आर्थिक विश्व व्यवस्था, संयुक्त राष्ट्र का प्रजातान्त्रिकरण, निरस्त्रीकरण, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका, युद्ध एवं शान्ति के मुद्दों आदि विषयों पर मतभेद होने के बावजूद भी इनसे व्यापार, पूंजीनिवेश, प्रौद्योगिकी सहयोग आदि आज भी जारी है।

16.6.4 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं रंगभेद का विरोध

भारत ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध अपना संघर्ष अति गंभीर रूप से लिया। भारत ने इसे केवल अपने देश की स्वतन्त्रता तक ही सीमित न रखकर सम्पूर्ण उपनिवेशवादी ताकतों के विरुद्ध तथा सभी अधीन देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में लिया है। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई भारत ने इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता के रूप में लड़ी। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से ही नहीं, बल्कि नई दिल्ली में 1949 में एशियाई देशों का सम्मेलन बुलाकर इंडोनेशिया की आजादी हेतु भरसक प्रयास किए। जिनके परिणामस्वरूप अन्ततः इंडोनेशिया को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य घोषित कराने में सफल हुआ। 1950 के दशक में भारत ने कई राष्ट्रों की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसमें प्रमुख रूप से इटली एवं फ्रांस के अधीन उपनिवेशों को स्वतन्त्र कराने के प्रयास शामिल हैं। भारत ने इटली के पूर्व उपनिवेश लीबिया, इरिटेरिया व इटालियन सोमालीलैंड (1949-52) तथा फ्रांस के पूर्व उपनिवेशों मोरक्को (1951-56), तुनिसिया (1952-56) तथा साइप्रस (1956-60) को भी मुक्त कराया। अतः 1950 व 60 के

दशकों में ज्यादातर अफ्रीकी व एशियाई देशों को उपनिवेशवाद से मुक्त कराने हेतु भारत ने संयुक्त राष्ट्र के मंचों एवं इसके बाहर बहुत महत्वपूर्ण प्रयास किए। रंगभेद की नीतियों के विरुद्ध भी भारत ने भरसक प्रयत्न किए। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीतियों का विरोध महात्मा गांधी से लेकर स्वतन्त्र भारत में भी बहुत सशक्त रूप से हुआ। भारत ने लम्बे समय तक इस देश के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध भी इसी नीति के विरोध स्वरूप स्थापित नहीं किए। संयुक्त राष्ट्र, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों के माध्यम से इन नीति को समाप्त करने की बात बहुत ही सशक्त रूप से पेश की। यद्यपि स रंगभेद के विरुद्ध भारत की लड़ाई में अमेरिका व इंग्लैंड का पूर्ण सहयोग प्राप्त न होने के कारण कोई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। परन्तु फिर भी भारत जनमत को इसके विरुद्ध करने में सफल रहा। भारत के निरन्तर प्रयासों के कारण सुरक्षा परिषद ने दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध प्रतिबंधों की घोषणा की। 1963 में इन प्रतिबंधों के अन्तर्गत इस देश को भेजे जाने वाले सभी सैन्य सामानों पर रोक लगा दी गयी है। 1965 में इस देश के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा की गई। इस समस्या की ओर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का ध्यानाकर्षण हेतु 1971 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा 'रंगभेद नीति पर नियन्त्रण हेतु कार्य करने का अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष घोषित किया गया। इस प्रकार भारत की सक्रिय भूमिकाओं के साथ-साथ अन्य एशियाई व अफ्रीकी देशों के समर्थन से जिम्बावे (1980), नामीबिया (1990) आदि की स्वतंत्रता के साथ-साथ दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद रहित सरकार की स्थापना हुई। अतः भारत की विदेश नीति में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। भारत अपने विदेश नीति के सिद्धान्तों एवं व्यवहार में हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर रंगभेद नीति की समाप्ति हेतु प्रयासरत ही नहीं रहा, अपितु अग्रणीय राष्ट्रों में से रहा है। उसने इस मुद्दे पर पहल ही नहीं की अपितु इसे व्यवहारिक दर्जा देने हेतु अपने राष्ट्रीय हितों की परवाह न करते हुए सभी महत्वपूर्ण कदम उठाए। अन्ततः भारत के दबाव, जनमत तथा तीसरी दुनिया के देशों के सामूहिक प्रयासों से भारत को इस नीति को समाप्त करने में सफलता प्राप्त हुई।

16.6.5 निरस्त्रीकरण स्थापित करना

भारत ने सदैव विश्व में सामान्य एवं व्यापक निरस्त्रीकरण हेतु प्रयास किए हैं। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र या उसके बाहर सभी मंचों पर निरस्त्रीकरण की प्रबल वकालत करने वाले राष्ट्रों में हमेशा भारत अग्रणीय स्थान रहा है। भारत ने सदैव संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित प्रस्तावों का समर्थन किया है या अपने ज्ञापनों एवं संशोधनों के माध्यम से इस प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाया है। इस दिशा में नेहरू सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने परमाणु शस्त्रों से मुक्त विश्व स्थापित करने हेतु 2 अप्रैल 1954 में संयुक्त राष्ट्र में "स्टैंडस्टील रैजोल्यूशन" प्रस्तुत किया। परन्तु जब 1959 तक भारत के बार-बार दोहराने के बाद भी कोई कार्यवाही नहीं हुई तब भारत की पहल पर 1961 में महासभा ने 'निरस्त्रीकरण समिति' के रूप में एक स्थाई समिति की स्थापना पर सहमति व्यक्त की। इस प्रयासों के फलस्वरूप ही 1963 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा मास्को टेस्ट बेन ट्रीटी आंशिक परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि (पी.टी.बी.टी) पर सहमति हुई। इसे पांच परमाणु शक्तियों एवं भारत सहित कई राज्यों ने स्वीकृति प्रदान की।

यह सर्वविदित है कि 1963 की सन्धि आंशिक थी, क्योंकि इसके माध्यम से केवल जल, वायु तथा थल पर ही परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया था, लेकिन भू-गर्भ द्वारा किए जाने वाले परीक्षणों पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी। भारत ने गुटनिरपेक्ष देशों के माध्यम से 'निरस्त्रीकरण समिति' के माध्यम से एक नई सन्धि के पारित होने पर बल दिया। इसके परिणामस्वरूप 12 जून 1968 को परमाणु अप्रसार सन्धि (एनपी.टी.) पर सहमति हो गई जिसे मार्च 1970 से माना गया। परन्तु भारत ने इस सन्धि की कमियों के कारण आज तक उस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। भारत का इस सन्दर्भ में मुख्य विरोध इस सन्धि का महासभा द्वारा पारित नवम्बर 1965 में 18 राष्ट्रों की समिति के प्रस्तावों के अनुरूप न होना है। उस प्रस्ताव में सम्मिलित चार मुख्य आधारों की पूर्ति इस सन्धि के माध्यम से नहीं होती है। ये चार प्रमुख तत्व थे— 1. इस सन्धि द्वारा परमाणु राष्ट्रों एवं गैर-परमाणु राष्ट्रों द्वारा परमाणु प्रसार पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए; 2. इससे परमाणु एवं गैर परमाणु राष्ट्रों के बीच परस्पर उत्तरदायित्व व कार्यों के

बीच तालमेल होना चाहिए; 3. यह सामान्य एवं व्यापक निरस्त्रीकरण, विशेषकर परमाणु निरस्त्रीकरण, स्थापित करने की दिशा में कदम होना चाहिए; तथा 4. इसमें इस सन्धि को प्रभावी करने सम्बन्धित धाराओं का प्रावधान होना चाहिए। बाद के वर्षों में भारत ने इस सन्धि के भेदभाव पूर्ण होने तथा व्यापक न होने के कारण भी हस्ताक्षर करने से मना कर दिया।

परमाणु अप्रसार सन्धि से उत्पन्न गतिरोधों के बावजूद भी भारत ने व्यापक आधार वाली सन्धि पर सहमति के प्रयास जारी रखे। परन्तु 1978 तक ज्यादातर निरस्त्रीकरण सम्बन्धित प्रयास दोनों महाशक्तियों के बीच ही सिमट कर रह गए। काफी समय बाद 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने निरस्त्रीकरण पर पहला विशेष सम्मेलन बुलाया। इसी कड़ी में द्वितीय विशेष सम्मेलन, 1982 में श्रीमति इंदिरागांधी ने परमाणु शस्त्रों के प्रयोग न करने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने, परमाणु हथियारों के उत्पादन या विस्फोटक सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाने, तथा सभी हथियारों से जुड़े परमाणु परीक्षणों पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाने के बारे में सुझाव दिए।

संयुक्त राष्ट्र का तीसरा विशेष सम्मेलन जून 1988 में बुलाया गया जिसमें भारत ने विशेष भूमिका निभाई। राजीव गांधी ने इस सन्दर्भ में सन् 2010 तक विश्व को परमाणु हथियारों से मुक्त बनाने हेतु महत्वपूर्ण रूपरेखा पेश की। यह प्रस्ताव तीन चरणों में पूरा होना था। प्रथम चरण (1988–1994) में मुख्य रूप से आणविक हथियारों में भारी मात्रा में कटौती, परमाणु हथियारों एवं विस्फोटक सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध, परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध, परमाणु हथियारों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, अन्तरिक्ष में हथियारों के परीक्षणों एवं विस्थापन पर रोक, संयुक्त राष्ट्र जाँच व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया गया। इसके अतिरिक्त, नाटो एवं वारस सन्धि देशों के पारम्परिक हथियारों में कटौती की बात भी की गई। द्वितीय चरण (1995–2000) में, प्रथम चरण की गतिविधियों को आगे बढ़ाने के कार्यक्रम निर्धारित किए गए। इसमें मुख्य रूप से पारम्परिक हथियारों के सैन्य सम्बन्धित अड्डों की समाप्ति करने, एक व्यापक विश्व सुरक्षा व्यवस्था बनाने, संयुक्त राष्ट्र को मजबूत बनाने आदि के कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया। तृतीय चरण (2001–2010) में मुख्य रूप से सभी राज्यों के लिए कम से कम आवश्यक सुरक्षा सम्बन्धित निरस्त्रीकरण होना चाहिए तथा अहिंसा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के नये ढाँचे का निर्माण होना चाहिए। इस कार्यक्रम के माध्यम से राजीव गाँधी का मानना था कि सभ्य समाज हेतु अहिंसा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संबंध ही केवल एकमात्र विकल्प है।

इसके अतिरिक्त, भारत ने हमेशा भेदभावपूर्ण एवं आंशिक निरस्त्रीकरण सम्बन्धी सन्धियों का विरोध किया है। इस दिशा में 1970 की परमाणु अप्रसार सन्धि (एन.पी.टी.) पर भारत का विरोध सर्वविदित है। इस कमी को पूरा करने हेतु शीतयुद्धोत्तर युग में दिसम्बर 1993 में भारत ने अमेरिका के साथ संयुक्त रूप से 'व्यापक परमाणु निषेध सन्धि' (सी.टी.बी.टी.) का प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र में प्रस्तुत किया। परन्तु इस बीच ही परमाणु शस्त्रों से सम्पन्न राष्ट्रों ने 'परमाणु अप्रसार सन्धि' को भी 1995 में "असीमित" समय के लिए स्वीकृत करा लिया। जिसे बाद में विश्व के लगभग 180 राष्ट्रों की स्वीकृति मिल गई। इस घटना क्रम तथा सी.टी.बी.टी. के प्रारूप पर हुई बहस ने यह सिद्ध कर दिया कि यह नई सन्धि। (सी.टी.बी.टी.) भी एक व्यापक व सार्वभौमिक सन्धि होने के बजाय भारत के परमाणु कार्यक्रमों पर रोक लगाने तथा अन्ततः समाप्त करने हेतु बनाई जा रही है। सन्धि पर वार्ताओं के दौर में भारत की बातों को नकारते हुए इस सन्धि के प्रभावी होने के अनुच्छेद से भारत को स्पष्ट हो गया कि यह उसके विरुद्ध षडयंत्र का स्वरूप है। अतः उसने इसे मानने से इन्कार करते हुए इससे अपने को अलग कर लिया। अन्ततः परमाणु शक्ति राष्ट्रों के बढ़ते दबावों के कारण 11 व 13 मई 1998 को अपने परमाणु विकल्प का प्रयोग कर अपने को परमाणु शक्ति सम्पन्न घोषित कर दिया।

भारत की नीति में उपरोक्त परिवर्तन स्तही तौर पर निरस्त्रीकरण के प्रति विरोधाभास प्रतीत होता है। लेकिन यदि गहन अध्ययन करें तो पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश की बाध्यताओं के अनुरूप भारत को अपने 24

वर्षों का संयम (1974 से 1998) तोड़ना पड़ा। अभी भी परमाणु विस्फोटों के बाद भारत ने स्वयं पर अंकुश लगाने की बात की तथा यह एकतरफा कार्यवाई बिना किसी दबाव के होगी। भारत ने 'प्रथम प्रयोग न करने' के सिद्धान्त तथा गैर-परमाणु राष्ट्रों के विरुद्ध भी परमाणु हथियारों के प्रयोग की मनाही की है। भारत ने सिर्फ अपनी सुरक्षा हेतु इसे 'न्यूनतम निरोधक' क्षमता तक ही विकसित करने की बात की है। अतः भारत आज भी किसी भी व्यापक स्वरूप वाली समता पर आधारित सार्वभौमिक सन्धि पर हस्ताक्षर करने का पक्षधर है। इसलिए निरस्त्रीकरण के प्रति वचनबद्धता आज भी भारतीय विदेश नीति की महत्वपूर्ण विशेषता है।

16.6.6 नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की पक्षधर

भारत की विदेश नीति में राजनैतिक व सामरिक मुद्दों के साथ-साथ आर्थिक मुद्दों पर भी महत्वपूर्ण बल दिया। विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में 1950 व 1960 के दशकों में राजनैतिक मुद्दों को भारत ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से उठाया। परन्तु 1970 के दशक में ज्यादातर तीसरी दुनिया के देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं विकास हेतु 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (एन.आई.ई.ओ) की स्थापना पर बल दिया। भारत का इसके पीछे तर्क था कि जब तक इन विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं, जैसे- गरीबी, भूख, बीमारी, बेरोजगारी आदि, का निदान नहीं होता तब तक वहां आर्थिक समृद्धि नहीं आ सकती। इस आर्थिक क्षमता के विकास के बिना इन राष्ट्रों को विश्व में समानता, स्वतन्त्रता एवं सम्मान भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः भारत ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के मंचों के माध्यम से 1970 के दशक में इसे इस आन्दोलन की विषय सूची का भाग बनाया। 1973 के अल्जीरिया सम्मेलन में विश्व शान्ति की समस्या को आर्थिक विकास व स्वतन्त्रता से जोड़ा गया। अन्ततः भारत व अन्य विकासशील देशों के प्रयास के बाद संयुक्त राष्ट्र ने 1 मई, 1974 को नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की घोषणा की। बाद में 1983 की 'नई दिल्ली घोषणा' में भी इसे अत्याधिक महत्व प्रदान किया गया।

शीतयुद्धोत्तर युग में यद्यपि भारत अब भूमंडलीकरण, उरारीकरण व मुक्त बाजार व्यवस्था अपना रहा है। परन्तु वह आज भी इन देशों के हितों की रक्षा करके इस बदलाव के दौर में इन राष्ट्रों में स्थाईत्व का पक्षधर बना हुआ है। सर्वप्रथम गैर वार्ताओं के माध्यम से 'विश्व व्यापार संगठन' के अन्तर्गत बहुपक्षीय आधार पर व्यापारिक शर्तों को विकासशील देशों हेतु न्यायोचित बनाने में प्रयासरत रहा है। द्वितीय, जी-77 व जी-15 देशों के समूह के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र में तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाकर भारत इनके आर्थिक विकास हेतु सचेत है। तृतीय, बदलते हुए परिवेश में विकसित देशों के आर्थिक गुटों में बटने के कारण (यूरोपीय संघ, नाफता, एशिया-प्रशान्त सहयोग आदि) भारत तीसरी दुनिया या गुटनिरपेक्ष देशों को भी विभिन्न क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों (हिन्दमहासागर टिम, साप्ता आदि) के माध्यम से विकास करने का पक्षधर है। अतः इन प्रयासों के माध्यम तथा अपनी विदेश आर्थिक नीति के माध्यम से भारत आज भी विकासशील देशों तक बदलती हुई विश्व व्यवस्था के आर्थिक लाभों को पहुँचाना चाहता है। इसके अतिरिक्त, भारत इस नई स्थिति में इन देशों के विरुद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा या विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से सामाजिक धारा, बाल श्रम, मानवाधिकार आदि के नाम पर होने वाले किसी भी प्रकार के शोषण से रक्षा हेतु भी भरसक प्रयत्न कर रहा है।

16.6.7 संयुक्त राष्ट्र में निष्ठा

भारत ने अपनी नीति द्वारा हमेशा न केवल संयुक्त राष्ट्र की स्थापना प्रक्रिया का समर्थन किया है बल्कि इसके द्वारा स्थापित मूल सिद्धान्तों व उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनी वचनबद्धता दोहराई है। नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में बोलते हुए 3 नवम्बर 1948 को कहा था कि भारत न केवल पूर्ण रूप से चार्टर के सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों हेतु वचनबद्ध है अपितु अपनी पूर्ण क्षमता के साथ उनको लागू करने की कोशिश भी करेगा। क्योंकि नेहरू का मानना था कि कुछ कमियों के बावजूद भी यह मूल कार्य को करने में सक्षम है और इसे यदि हमने आज स्थापित व मजबूत नहीं किया होता तब भी राष्ट्र इस प्रकार के संगठन की स्थापना हेतु अवश्य एकजुट हो जाते। लगभग इसी

प्रकार के उदगार नेहरू ने 5 मई 1950 को संयुक्त राष्ट्र नेटवर्क से न्यूयार्क में बोलते हुए प्रकट किए जब उन्होंने कहा कि संयुक्त राष्ट्र के मात्र अस्तित्व से ही हमने अपने आपको कई प्रकार के खतरों एवं संकटों से बचा लिया है। इसके साथ-साथ आज के विश्व में राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सहयोग की यह एक मात्र किरण है। सामान्य समय में ही नहीं बल्कि निराशा के दौर में भी भारत ने संयुक्त राष्ट्र से कभी भी अपना समर्थन वापिस नहीं लिया। कश्मीर जैसे मुद्दे का हल न होने पर भी भारत क संयुक्त राष्ट्र से आस्था में कभी कमी नहीं आई।

भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्तों में आस्था का प्रमुख कारण भारत का स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं संयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्तों व उद्देश्यों में काफी समानताएँ विद्यमान होना है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्त, जैसे विश्व शान्ति, समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल, रंगभेद की समाप्ति, सहनशीलता, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक व आर्थिक सहयोग, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व आदि मूल रूप में संयुक्त राष्ट्र कार्यसूची का भी भाग है। भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख मूल्य एवं आदर्श भी संयुक्त राष्ट्र के मूल्यों एवं आदर्शों से काफी हद तक मेल खाते हैं।

इसीलिए शीतयुद्ध युगीन विश्व व्यवस्था के दौरान भारत ने संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद आदि की समस्याओं के निवारण के साथ-साथ विश्व शान्ति की स्थापना हेतु पारम्परिक एवं परमाणु निरस्त्रीकरण की समस्या को हल करवाने के काफी प्रयास किए। यद्यपि कुछ मुद्दों पर सफलता भी मिली, परन्तु सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सका। परन्तु भारत इस संगठन के माध्यम से उन्हें भी विश्व जनमत के सम्मुख प्रस्तुत कर सका। उत्तर-शीतयुद्ध काल में भी नई आर्थिक व्यवस्था के गठन, उत्तर-दक्षिण संवाद, आदि के आर्थिक मुद्दों पर भी भारत की प्रतिक्रियाएँ महत्वपूर्ण रही हैं। संयुक्त राष्ट्र में आजकल चर्चित बहुत सी महत्वपूर्ण चर्चाओं जैसे पर्यावरण सुधार, आंतकवाद पर प्रतिबन्ध, धरती को बचाने के कार्यक्रमों, ओजोन परत को क्षीण होने से रोकना, प्रदूषण को कम करना आदि के संदर्भों में भी भारत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। परन्तु संयुक्त राष्ट्र में पाँच महाशक्तियों द्वारा प्रयोग में की गई वीटो शक्ति के कारण भारत की भूमिका उतनी सशक्त नहीं हो पा रही है। दूसरे विश्व में आये आमूलचूक परिवर्तनों के मध्य नजर भी संयुक्त राष्ट्र का शक्ति विभाजन संतुलित प्रतीत नहीं होता। इसीलिए इस संस्था को और अधिक कारगर एवं उपयोगी बनाने हेतु भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रजातान्त्रिकरण हेतु भी काफी प्रयास कर रहा है। अतः विभिन्न बदलावों के बावजूद भारत की विदेश नीति में संयुक्त राष्ट्र में आस्था, इसमें सक्रिय योगदान व रुचि तथा इसके उत्तरदायित्वों को वहन करने की नीति निरन्तर रूप से जारी है।

16.6.8 विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने का पक्षधर

भारत की विदेश नीति हमेशा विश्व में घटित विवादों को शान्तिपूर्ण हल करने की पक्षधर रही है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा शान्ति स्थापित करने की कार्यवाही के सन्दर्भ में भारत हमेशा अध्याय (VII) (दंडात्मक कार्यवाही/सामूहिक सुरक्षा के माध्यम से) के स्थान पर अध्याय (VI) (शान्तिपूर्ण तरीकों से विवादों को सुलझाना) के अन्तर्गत कार्यवाही का पक्षधर रहा है।

भारत का मानना रहा है कि दण्डात्मक कार्यवाही से राज्यों के बीच मतभेद या मनमुटाव और बढ़ जाता है, जबकि शान्तिपूर्ण तरीकों के माध्यम से किया गया समाधान ज्यादा स्थाई सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में भारत सुरक्षा परिषद् सुरक्षा एवं महासभा की शक्तियों में परिवर्तन का पक्षधर नहीं हैं अपितु इसका मानना है कि किसी भी प्रकार से परिषद् की शक्तियों को घटाकर महासभा की शक्तियों में परिवर्तन का पक्षधर नहीं है अपितु इसका मानना है कि किसी भी प्रकार से परिषद् की शक्तियों को घटाकर महासभा की शक्तियों में वृद्धि नहीं की जानी चाहिए। ऐसा करना अन्यायपूर्ण ही नहीं, अपितु राजनैतिक तौर पर भी गलत होगा। शायद इसी कारण से जब नवम्बर 1949 को 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के माध्यम से महासभा की शक्तियों में वृद्धि करने की बात हुई तब भारत वोट डालने के समय अनुपस्थित रहा। बल्कि भारत का मानना है कि संयुक्त राष्ट्र की किसी भी कार्यवाही हो प्रभावी रूप से

करने हेतु पाँचों वीटो शक्तियों की सहमति आवश्यक है, उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र की सैन्य कार्यवाही हेतु भी पाँचों वीटो शक्तियों की स्वीकृति का प्रावधान है।

शीतयुद्धोत्तर युग में भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रजातान्त्रिकरण हेतु भी शक्ति नहीं बल्कि आपसी सहमति को आधार बनाने का पक्षधर है। भारत की मांग बदले हुए विश्व के क्षितिज तथा समानांतर स्थिति के साथ-साथ नैतिकता एवं सर्वसम्मति पर आधारित है। भारत की यह मांग मूलतः नैतिकता, राजनैतिक, सुचारु विश्व व्यवस्था तथा प्रभाविकता पर आधारित है। अतः प्रारम्भिक वर्षों से लेकर शीतयुद्धोत्तर युग तक भारत का अटूट विश्वास रहा है कि विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना ही स्थाई एवं कारगर तरीका है। इसी माध्यम से विश्व में दूरगामी शान्ति एवं स्थिरता बनी रह सकती है।

16.7 सारांश

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारत की विदेश नीति को उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर ही भारत न केवल अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति मात्र में व्यस्त है, अपितु वह विश्व शान्ति के प्रयासों को बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। इन्हीं विशेषताओं के द्वारा वह अपने द्विपक्षीय मतभेदों को हल करके परस्पर राष्ट्रों से अच्छे संबंधों के साथ-साथ क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करने में प्रयासरत है। भारत की विदेश नीति के अन्तर्गत इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हिंसा का कोई स्थान नहीं है, बल्कि वह चाहता है कि मतभेदों को भी शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना ज्यादा श्रेयकर रहेगा। इसके साथ-साथ इसका है कि इस सन्दर्भ में राज्यों को हथियारों की होड़ को समाप्त करके निरस्त्रीकरण पर बल देना होगा। इस सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने हेतु वह समानता व न्याय पर आधारित नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विश्व व्यवस्था का पक्षधर है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब इस बदले हुए विश्व में संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था कार्य करे। शायद इसीलिए वर्तमान सन्दर्भ में ईराक के विरुद्ध कार्यवाही में भारत संयुक्त राष्ट्र की महत्वपूर्ण भूमिका का पक्षधर है। इसके साथ-साथ भारत संयुक्त राष्ट्र के प्रजातान्त्रिकरण की मांग भी करता रहा है। अतः भारत की विदेश नीति गुटनिरपेक्षता, पंचशील, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के साथ-साथ विश्व शान्ति, सहयोग, निरस्त्रीकरण आदि को बढ़ावा देने की नीति है।

16.8 प्रश्नावली

1. विदेश नीति से आपका क्या अभिप्राय है? भारत के विदेश नीति के ऐतिहासिक विकास का वर्णन कीजिए।
2. भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
4. भारत की विदेश नीति में शीतयुद्धोत्तर युग में आये बदलाओं का विवरण दीजिए।
5. भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
6. भारत द्वारा निःशस्त्रीकरण हेतु किए गए प्रयासों की चर्चा कीजिए।
7. भारत की विदेश नीति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना हेतु योगदान का वर्णन कीजिए।

16.9 पाठन सामग्री

1. आर.एस. यादव, सम्पूर्ण इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी इन दॉ 2000 ए.डी (नई दिल्ली, 1993)
2. आर.एस. यादव एवं सुरेश ढांडा, सम्पा०, इण्डियाज फॉरेन पालिसी : कंटम्प्रेरी ट्रेंडज, (नई दिल्ली, 2009)
3. आर.एस. यादव, भारत की विदेश नीति (दिल्ली, पियरसन, 2013)

4. आर.एस. यादव, इण्डियन फॉरेन पालिसी (दिल्ली, पियरसन, 2020)
5. डेविड एम.मलोने एवं अन्य, सम्पा०, डॉ ऑक्सफोर्ड हेंड बुक ऑफ इण्डियन फॉरेन पालिसी (नई दिल्ली, 2015)
6. राजीव सिकरी, चैलेंजीज एण्ड स्ट्रेटेजी : रिचिंकिंग इण्डियाज फॉरेन पालिसी (नई दिल्ली, सेज, 2013)
7. हर्ष वी.पंत, इण्डियन फॉरेन पालिसी : एन ओवरव्यू, (मानयेस्टरयूनि प्रैस, 2016)
8. सुमित गांगुली, इण्डियन फॉरेन पालिसी, (ओक्सफोर्ड यूनि०, प्रैस, 2015)
9. हर्ष वी.पंत, सम्पा०, न्यू डारेकसन इन इण्डियाज फॉरेन पालिसी : न्यौरी एण्ड प्रैक्सिस (केम्ब्रीज यूनि० प्रैस, 2018)
10. कान्ति बाजपेयी एण्ड हर्ष वी.पंत, सम्पा०, इण्डियन फॉरेन पालिसी : ए रीडर, (आम्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2013)
11. सुमित गांगुली, सम्पा०, ऐगोजिज डॉ वर्ल्ड, इण्डियन फॉरेन पालिसी सिंसा 1947, (आक्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2016)
12. डेविड एम. मलोने, जज डॉ ऐलिफेंट डांसर कम्टम्प्रेरी इण्डियन फॉरेन पालिसी (ओक्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2014)

भारत के पड़ोसियों से संबंध

अध्याय का ढांचा

17.1 प्रस्तावना

17.1.1 अध्याय के उद्देश्य

17.2 पड़ोस नीति का स्वरूप

17.3 पड़ोसियों से द्विपक्षीय सम्बन्ध

17.3.1 भारत—चीन संबंध

17.3.1.1 संबंधों का स्वर्णिम युग (1949—1959)

17.3.1.2 संघर्ष का काल (1959—1962)

17.3.1.3 संबंध रहितता का काल (1962—1976)

17.3.1.4 वार्तालाप का काल (1976—1988)

17.3.1.5 सहयोगात्मक संबंधों का युग, (1988—1998)

17.3.1.6 नवीन साझेदारी की ओर अग्रसर, (1999—2020)

17.3.2 भारत—पाकिस्तान संबंध

17.3.2.1 विभाजन व प्रारम्भिक अलगाव, (1947—1954)

17.3.2.2 संघर्षपूर्ण संबंध, (1955—1971)

17.3.2.3 तनाव शैथिल्य का दौर, (1972—1979)

17.3.2.4 उतार—चढ़ाव का दौर, (1980—1998)

17.3.2.5 कारगिल युद्ध से पुनः संबंध स्थापना तक (1999—2020)

17.3.3 भारत—श्रीलंका संबंध

17.3.3.1 मतभेदपूर्ण संबंध (1948—1956)

17.3.3.2 मित्रतापूर्ण संबंध (1956—1976)

17.3.3.3 तनावपूर्ण संबंध (1977—1994)

17.3.3.4 मधुर सम्बन्धों की पुनः वापसी (1994—2003)

17.3.4 भारत—बांग्लादेश संबंध

17.3.4.1 प्रमोदकाल (1971—1975)

17.3.4.2 उतार-चढ़ाव का दौर, (1975–1995)

17.3.4.3 नई शुरुआत, (1996–2020)

17.3.5 भारत-नेपाल संबंध

17.3.5.1 मित्रतापूर्ण प्रारम्भ (1947–1955)

17.3.5.2 परिवर्तन का युग (1955–1962)

17.3.5.3 नये समीकरणों का युग (1963–1971)

17.3.5.4 मतभेदों के बावजूद सामान्य संबंध (1972–1979)

17.3.5.5 उतार-चढ़ाव परन्तु सुखद संबंध (1980–2003)

17.4 सारांश

17.5 प्रश्नावली

17.6 पाठन सामग्री

17.1 प्रस्तावना

भारत की विदेश नीति में पड़ोसी देशों के प्रति रुझान अत्याधिक रूप में दिया गया है। चाहे पंचशील की नीति हो, चाहे गुजरात सिद्धान्त हो तथा चाहे मोदी सरकार का पड़ोसी प्रथम की नीति हो सभी विदेश नीति निर्माताओं ने इस पर अत्याधिक बल दिया है। शायद इसका प्रमुख कारण इन पड़ोसियों से हमारे विरासत में मिले विवादास्पद मुद्दे हो या बाद की परिस्थितियों से उत्पन्न स्थिति हो, भारत अपने पड़ोसियों को नहीं भूला सकता। इसके अतिरिक्त, पड़ोस में होने वाली नकारात्मक घटनाओं का अधिप्लाव प्रभाव भारत की विदेश नीति को प्रभावित करता है। इसके साथ-साथ भारत द्वारा हमेशा से विश्व स्तरीय भूमिका निभाने के प्रयास में भी क्षेत्रीय स्तर पर शान्ति व स्थायित्व आवश्यक है। अतः भारत किसी भी प्रकार की विदेश नीति का अनुसरण करें, परन्तु अपने पड़ोसियों को महत्त्व देगा तथा उनकी अनदेखी नहीं कर सकता।

17.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य भारत की पड़ोसी नीति का स्पष्ट वर्णन करना है। इसमें मूल रूप से पड़ोस नीति के स्वरूप व बड़े व छोटे पड़ोसियों के प्रति भारत के दृष्टिकोण को स्पष्ट करना है। इसके अतिरिक्त इन सभी पड़ोसियों के साथ 1947 से 2020 तक के द्विपक्षीय संबंधों के प्रमुख बिन्दुओं की चर्चा करना है इन सभी आयामों के अध्ययन से भारत की पड़ोसियों के प्रति विदेश नीति का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करना है।

17.2 पड़ोसी नीति का स्वरूप

विदेश नीति के निर्धारण में प्रत्येक राज्य को अपने पड़ोसी राष्ट्रों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब देश की सुरक्षा को पड़ोसी राज्यों की राजनीति प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। भारत के पांच से भी अधिक दशकों के इतिहास के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए भारत की विदेश नीति का केन्द्र बिन्दु अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सामरिक रूप से सुरक्षित, राजनीतिक रूप से स्थिर एवं शान्तिपूर्ण तथा आर्थिक रूप से सहयोगात्मक संबंध स्थापित करना रहा है। अतः भारत सक्रिय रूप से निरन्तर अपने पड़ोसी

राष्ट्रों के साथ संबंधों की प्रक्रिया में लगा रहता है।

भारत की विभिन्न पड़ोसियों से अलग-अलग संबंधों को अध्ययन करने से पूर्व यह अनिवार्य है कि भारत की पड़ोस नीति के विभिन्न चरणों का आंकलन करें। यद्यपि मुख्य रूप से भारत की विदेश नीति के प्रमुख आयामों में से एक है सभी पड़ोसियों से मधुर सम्बन्ध, फिर भी अलग-अलग नेतृत्व के समय उन बिन्दुओं पर बल देने की विभिन्नता के कारण थोड़ा बहुत अन्तर जरूर दिखाई पड़ता है। पिछले 56 वर्षों में (1947-2003) मुख्य रूप से भारत की पड़ोस नीति के पांच प्रमुख चरण माने जा सकते हैं :-

- (1) प्रथम चरण नेहरू युग (1947-1964) को मान सकते हैं जिसमें भारत विश्व स्तर पर अधिक प्रभावी होने की चाह में पड़ोसियों पर कम ध्यान दे सका। यद्यपि इस सन्दर्भ में पंचशील के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया गया, तथापि चीन से ही युद्ध का सामना भी करना पड़ा। इस संकट के समय में पड़ोसियों द्वारा कोई प्रभावी पहल न करने व समर्थन न देने के कारण भी भारत को पड़ोसियों के प्रति उदासीनता की नीति को छोड़ना पड़ा।
- (2) द्वितीय चरण इन्दिरा गांधी युग (1966-1984) को माना जा सकता है जो नेहरू के आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवादी नीतियों का काल था। इस समय में विश्व सन्दर्भ में भारत की स्थिति को मजबूत करने के साथ-साथ दक्षिण एशिया में भी इसकी स्थिति को सुदृढ़ किया गया। भारत-सोवियत मैत्री सन्धि व हिन्दमहासागर शान्ति क्षेत्र घोषित होनेके साथ-साथ क्षेत्रीय सन्दर्भ में भारत-पाक युद्ध में विजय के साथ-साथ परमाणु परीक्षण, एकीकृत प्रक्षेपास्त्र प्रणाली, रक्षा क्षेत्र में विकास आदि के द्वारा रक्षा में आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश भी की।
- (3) तृतीय चरण (1985-1996) तक का काल तदर्थता का युग माना जा सकता है। विभिन्न सरकारों के आने, पड़ोसियों से विभिन्न मुद्दों पर मनमुटाव, आन्तरिक राजनैतिक अस्थिरता आदि के कारण इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका। यद्यपि दक्षेस की स्थापना से क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने का प्रयास अवश्य किया गया, परन्तु यह प्रयोग अधिक सफल नहीं हो सका।
- (4) चतुर्थ चरण (1997-1998) बहुत संक्षिप्त परन्तु महत्वपूर्ण समय गुजरात सिद्धान्त के स्थापित होने को मान सकते हैं। इस समय सिद्धान्त के आधार पर एक तरफ रियायतों की घोषणा के आधार पर छोटे पड़ोसी राज्यों से जुड़े सभी विवादों को हल करके सहयोग विकसित करने के प्रयास किये गए। इसके साथ-साथ दक्षिण एशिया में उप-समूहों के माध्यम से पड़ोसियों के साथ सहयोग विस्तार पर बल दिया गया।
- (5) पंचम चरण (1998-2014) राष्ट्रीय गठबन्धन सरकार द्वारा वाजपेयी के जनता कार्यकाल में विदेश मंत्री के समय (1977-1999) की नीतियों एवं गुजरात सिद्धान्त को मिश्रण के अपनाते हुए सभी पड़ोसियों से अच्छे संबंधों, का प्रयास किया गया। इसके अन्तर्गत छोटे पड़ोसियों के साथ-साथ भारत के दोनों बड़े पड़ोसियों चीन व पाकिस्तान के साथ संबंधों को सुधारने के प्रयास किए गए। चीन के साथ मई 1998 के बाद आये तनाव को परस्पर राजनेताओं की यात्राओं के माध्यमों से दूर करने के प्रयास किए गए। भारत की ओर से जसवन्त सिंह (1995-2001) के.आर. नारायणन (2000) तथा अटलबिहारी वाजपेयी (2003) ने चीन की यात्राएं की तो, चीन की ओर से ली पेंग (1999) झू. रोंगजी (2002) व कई अन्य प्रमुख नेताओं ने भारत की यात्राएं की। पाकिस्तान के साथ भी प्रयास तो किए गए लेकिन ज्यादातर विफल रहे। लाहौर यात्रा (1999) के बाद कारगिल युद्ध (1999) हो गया। 13 दिसम्बर 2001 को भारत संसद पर आंतकवादी हमलों के बाद ऑपरेशन पराक्रम (2001-2002) की विफलता के बाद आगरा शिखर वार्ता (2002) भी असफल रही। वर्तमान में श्रीनगर पहल (2003) के क्या परिणाम होंगे कहना अभी जल्दबाजी होगी।

1. अन्तिम चरण (2014–2020)

अतः पड़ोसियों से संबंधों का सिलसिला उतार-चढ़ाव वाला रहा है। इसके कुछ वस्तुनिष्ठ कारण उत्तरदायी रहे हैं जैसे – क्षेत्रीय भूगोल, राजनैतिक विरासत, आकारों में अन्तर, संसाधनों की विभिन्नता, जातीय, नदियों एवं अनिश्चित सीमाएँ आदि। कुछ व्यक्तिपरक कारण भी जिम्मेदार रहे हैं जैसे—विभिन्न विदेश नीतियां, नेतृत्व, राजनैतिक अस्थिरता, परस्पर अविश्वास, सकारात्मक दृष्टिकोणों का अभाव, आन्तरिक प्रजातान्त्रिकरण का अभाव सैन्य शासकों का वर्चस्व, कट्टरवाद आदि। परन्तु इन दोनों कारकों का प्रभाव अलग-अलग पड़ोसियों व विभिन्न समयों में पृथक-पृथक रूप में देखने को मिलता है। अतः इनको समझने हेतु भारत के सभी पड़ोसी राज्यों के साथ संबंधों का विस्तृत वर्णन अनिवार्य है, जो इस प्रकार से है।

17.3 पड़ोसियों से द्वि-पक्षीय सम्बन्ध

17.3.1 भारत-चीन संबंध

भारत व चीन के संबंधों की शुरुआत मधुर संबंधों के साथ हुई। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व चीन महत्व से अनभिज्ञ नहीं था। चीन में आये क्रांतिकारी बदलाव का आंकलन भी भारत ने सही परिप्रेक्ष्य में किया, अतः दोनों के मध्य अच्छे संबंधों की शुरुआत हुई। यही नहीं, अक्टूबर 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के बाद 30 दिसम्बर 1949 को उसे मान्यता प्रदान करने वाला, बर्मा (म्यांमार) के बाद, भारत दूसरा गैर-साम्यवादी देश था। यद्यपि स पृष्ठभूमि में दोनों के मध्य दूरगामी मधुर संबंधों से इन्कार नहीं किया जा सकता, तथापि यह भी सत्य है कि दोनों के मध्य 1962 में युद्ध हुआ। अतः एक ओर हिन्दी-चीनी भाई-भाई का दौर रहा वहीं दूसरी ओर 14 वर्षों तक 'संबंध रहितता' का काल भी रहा। इन सभी उतार-चढ़ावों से युक्त संबंधों के अध्ययन हेतु दोनों देशों के रिश्तों का विस्तृत आकलन आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है –

17.3.1.1 संबंधों का स्वर्णिम युग (1949–1959)

दोनों देशों के बीच संबंधों का प्रथम दशक मैत्रीपूर्ण एवं सहयोगात्मक रहा है। इनकी मित्रता के स्वरूप ही प्रगाढ़ता के कारण इसे 'प्रमोद युग' या 'स्वर्णिम युग' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के संबंधों हेतु कई प्रमुख कारक उत्तरदायी रहे हैं – प्रथम, भारत ने एक प्रजातांत्रिक देश होते हुए भी एक साम्यवादी देश को मान्यता ही नहीं प्रदान की अपितु सभी अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर इसकी मान्यता एवं सदस्यों की अन्य शक्तियों के समक्ष वकालत भी की। द्वितीय, भारत ने कई नीतियों के माध्यम से चीनी दृष्टिकोण एवं स्थितियाँ का समर्थन किया। उदाहरणस्वरूप 1950 में कोरिया संकट के समय चीन को आक्रान्ता घोषित करने के प्रस्ताव का विरोध करके, 1951 में सॉनफ्रांसिस्को सम्मेलन में जापान के साथ शांति संधि घोषणा पर हस्ताक्षर न करके तथा फोरमासा टापू को चीन में विलय करने का समर्थन करके भारत ने चीन के पक्षों को सदैव मजबूती प्रदान की। तृतीय, 29 अप्रैल 1954 को दोनों देशों द्वारा व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर 'पंचशील' के नियमों का उल्लेख कर अपने संबंधों हेतु एक मजबूत ढांचा तैयार कर लिया। शायद इसी कारणवश इस समय 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा बहुत सशक्त रूप से उभर कर सामने आया। चतुर्थ, दोनों देशों द्वारा विश्व शांति एवं कई प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर समान दृष्टिकोण अपनाना। मुख्य रूप से यह बात दोनों द्वारा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व रंग भेद की नीतियों का विरोध करने तथा एशिया व अफ्रीकी देशों के मध्य सहयोग विकसित करने के रूप में अति स्पष्ट रूप में देखने को मिली। अन्ततः दोनों देशों के राजनैतिक नेतृत्व द्वारा परस्पर देशों की यात्राओं के कारण इनके बीच में आपसी समझ एवं सहयोग की प्रक्रिया आगे बढ़ी।

परन्तु उपरोक्त सहयोगात्मक प्रवृत्तियों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि इस युग में दोनों देशों के बीच कोई मतभेद विद्यमान नहीं थे। सहयोग के इन प्रबल तथ्यों के होते हुए भी कुछ विषयों पर दोनों के बीच

मतभेद थे जो निम्न कारण को लेकर थे – तिब्बत को लेकर दोनों की बीच मतभेद बने हुए थे। भारत जहां इसे चीन का 'स्वायत्त क्षेत्र' मानता था वहीं चीन इसे अपना 'अभिन्न' अंग मानता रहा है। तिब्बत से भागने पर दलाई लामा को भी नई दिल्ली द्वारा शरण प्रदान करने पर दोनों के मतभेद स्पष्ट दिखाई देते थे। द्वितीय, चीन द्वारा अपने भौगोलिक नक्शों में भारत के लगभग 50,000 वर्ग मील के क्षेत्र को चीन का भाग दिखाने पर भी दोनों देशों के मध्य मतभेद बने रहे। अन्ततः बाण्डुंग (इंडोनेशिया) में हुए अफ्रीकी व एशियाई देशों के सम्मेलन में भी दोनों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण खुल कर सामने प्रकट हुए।

अतः मूल रूप से यह काल दोनों देशों के मध्य स्वर्णिम युग था, परन्तु भारत में चीन के प्रति कुछ सन्देह की स्थिति भी कुछ हद तक थी। परन्तु यह उतनी उजागर नहीं थी कि इसे मतभेदों का नाम दिया जा सके। भारत द्वारा चीन के प्रति कठोर दृष्टिकोण न अपनाएने के पीछे शायद दो प्रमुख कारण रहे होंगे—पहला, भारत की समकालीन आर्थिक एवं सामरिक कमजोरी, तथा दूसरा नेहरू व कृष्णामेनन का चीन की नीतियों के संबंध में गलत आंकलन।

17.3.1.2 संघर्ष का काल (1959—1962)

1959 में तिब्बत के विद्रोह व उसके परिणामस्वरूप दलाई लामा द्वारा भारत में शरण लेने के बाद भारत व चीन के संबंध टकराव की ओर बढ़ने लगे तो अन्ततः 1962 के चीन द्वारा किए आक्रमण के बाद एक अत्यन्त जटिल व्यवस्था में परिवर्तित हो गए। इसलिए यह युग बढ़ते हुए विवादों (विशेषकर सीमा विवाद) व युद्ध का युग रहा है। चीन ने तिब्बत विद्रोह में भारत की भूमिका को साम्राज्यवादी ताकतों से मिलीभगत एवं भारत की विस्तारवादी नीतियों का परिणाम बताया। परन्तु भारत ने चीन के इन दोनों आरोपों का खण्डन किया।

तिब्बत के बाद चीन ने भारत की सीमाओं में घुसपैठ प्रारम्भ कर दी। इस समय चीन ने सीमाओं को लेकर भारत पर तरह-तरह के आरोप लगाने शुरू कर दिए। इसकी विस्तृत जानकारी नेहरू द्वारा 14 दिसम्बर 1958 से 12 फरवरी 1960 तक चीन सरकार को लिखे गए पत्र व्यवहार से मिलती है। कुल मिलाकर 1958-59 में चीन ने भारत से लगी सीमाओं के पश्चिमी, मध्य व पूर्वी तीनों भागों पर कुछ न कुछ क्षेत्रों को अपनी ओर मिलाने की कार्यवाही शुरू कर दी। पश्चिमी क्षेत्र में आकसाई चीन में 1955 में चीन ने कुछ सड़कों का निर्माण कर लिया तथा 1958 में भारत के लद्दाख क्षेत्र में घुसपैठ करके कुछ क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। मध्य क्षेत्र में बड़ाहोती क्षेत्र को लेकर दोनों के मध्य विवाद रहा। भारत का क्षेत्र होने पर भी चीन बार-बार अपना नियंत्रण जताने लगा रहा। पूर्वी क्षेत्र में चीन ने भारत के लॉगजु क्षेत्र पर अपना कब्जा स्थापित कर लिया तथा मैकमोहन रेखा भी दोनों के मध्य विवाद का मुद्दा बनी रही।

लेकिन 20 अक्टूबर 1962 को चीन द्वारा भारत पर युद्ध करने से दोनों के बीच अत्यधिक दूरियां बन गईं। चीन ने इस युद्ध में भारत के एक बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया। यद्यपि चीन ने 21 नवम्बर 1962 को एकतरफा युद्ध विराम की घोषणा कर दी, परन्तु दोनों द्विपक्षीय संबंधों को गहरा धक्का लगा। इस युद्ध के बाद दोनों देशों के संबंध बिल्कुल समाप्त हो गए। भारत के एक बड़े भू-भाग पर चीन के कब्जे के कारण, सीमा विवाद दोनों के मध्य एक प्रमुख मुद्दा बन गया।

17.3.1.3 संबंध रहितता का काल (1962—1976)

चीन युद्ध के बाद अगले 14 वर्षों का समय दोनों देशों के बीच संबंध रहितता का युग रहा। यद्यपि दोनों देशों ने राजनयिक संबंध तो समाप्त नहीं किए, परन्तु अपने-अपने राजदूतों को अवश्य वापिस बुला लिया तथा दूतावासों को बन्द कर दिया। कई प्रमुख कारणों से दोनों के मध्य दूरियाँ कम होने के स्थान पर और बढ़ती गईं। प्रथम, अब दोनों के मध्य सीमा विवाद सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया इसीलिए इसके समाधान के बिना अच्छे संबंधों की कल्पना

करना कठिन था। कोलम्बों प्रस्तावों के आधार पर इस विवाद को इसलिए नहीं सुलझाया जा सका क्योंकि चीन ने कुछ शर्तें लगा दी थी। 1963 में दोनों सरकारों के मध्य हुए पत्र व्यवहारों का भी कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकला। चीन इस मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने हेतु भी सहमत नहीं हुआ। द्वितीय, 1963 में चीन व पाकिस्तान के मध्य क्षेत्रों के संबंध में हुए आदान प्रदान ने इनके तनावों को और बढ़ा दिया। 1963 में पाकिस्तान-चीन समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने 'पाक अधिकृत काश्मीर' का 5180 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र चीन को देने से भारत ने गहरा रोष प्रकट किया। तृतीय, 1964 में चीन द्वारा परमाणु विस्फोट करने तथा 1965 में भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान का समर्थन करने से दोनों के संबंध और अधिक तनावपूर्ण हो गए। चतुर्थ, 1970 के दशक में अमेरिका-पाक-चीन त्रिकोणीय गठबंधन से दोनों के रिश्ते और खराब हो गए। क्योंकि यह गठबंधन पूर्वी सोवियत संघ के साथ-साथ भारत की घेराबन्दी करने हेतु भी विकसित किया गया था।

परन्तु 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत की जीत ने स्पष्ट रूप से दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति मजबूत करते हुए इसे एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित किया। इसी काल में अमेरिका द्वारा चीन को मान्यता प्रदान करने से इसका संयुक्त राष्ट्र का स्थाई सदस्यता का मार्ग प्रशस्त हुआ। अतः दोनों देशों की स्थितियाँ मजबूत होने के कारण शायद दोनों द्वारा परस्पर रिश्तों में सुधार के प्रयास होने लगे। लेकिन 1974 में भारत द्वारा पोखरन-1 परमाणु विस्फोट करने तथा 1975 में सिक्किम को भारत का राज्य बना लेने से फिर दोनों के मध्य थोड़ा सा व्यवधान उत्पन्न हो गया। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं बनी रह सकी। दोनों देशों की विभिन्न बाध्यताओं एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में बदलावों के कारण 1976 में दोनों ने अपने मध्य दीवार को हटाकर पुनः राजनयिकों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू की। इस दृष्टि से अप्रैल 1976 में भारत ने एक लम्बे अन्तराल के बाद के आर. नारायणन को चीन में अपना राजदूत नियुक्त किया।

17.3.1.4 वार्तालाप का काल (1976-1988)

इस काल को दोनों देशों के मध्य 'नई शुरुआत' का युग कहा जा सकता है। इस युग को संबंधों के सामान्यीकरण के प्रयास हेतु अग्रसर होना भी माना जा सकता है। राजदूतों की परस्पर नियुक्ति से यह बात तो निश्चित ही थी कि दोनों राष्ट्र संबंधों में सुधार के इच्छुक हैं। इसके अतिरिक्त दोनों देशों में आये आन्तरिक बदलावों तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिणामस्वरूप भी यह प्रक्रिया और मजबूत हुई।

आन्तरिक रूप से जहाँ 1976 में माओ-से-तुंग की मृत्यु के बाद नवीन नेतृत्व ने उदारीकरण की नीतियों को अपनाते हुए न केवल चार प्रमुख क्षेत्रों में आधुनिकरण (रक्षा, कृषि, उद्योग तथा विज्ञान व प्रौद्योगिकी) पर बल दिया, वहीं चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' की व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया। इसके परिणामस्वरूप चीन ने विश्व राजनीति में अपने अलग-अलग स्वरूप को छोड़कर विश्व के विभिन्न देशों से अति आधुनिकतम एवं उच्च दर्जे की प्रौद्योगिकी ग्रहण करना शुरू कर दिया। इस प्रक्रिया में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करने के साथ-साथ, पड़ोसियों से संबंध सुधारों पर भी बल दिया।

भारत ने भी अपनी आन्तरिक स्थिति को देखते हुए पड़ोसियों से संबंध सुधारने प्रारम्भ कर दिए जिसमें जनता दल के शासन काल में (1977-79) 'पड़ोसियों' के प्रति मधुर संबंध विकसित करने की नीतियों ने और मजबूती प्रदान की। इस सन्दर्भ में वाजपेयी ने विदेश मंत्री के तौर पर चीन की यात्रा भी की, परन्तु वह सफल न हो सकी। इसके बाद भी दोनों देशों के मध्य संबंध सुधार एवं सहयोग बढ़ाने का सिलसिला जारी रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, जहाँ एक ओर चीन को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के साथ-साथ सुरक्षा परिषद् की स्थाई सदस्यता भी मिल गई, वहीं भारत भी 1971 में अपनी जीत एवं 1974के पोखरन-1 परीक्षण के बाद अधिक आश्वस्त दिखाई दिया। इसके अतिरिक्त, चीन व पूर्व सोवियत संघ के बीच सुधरते संबंधों ने भी दोनों के मध्य एक

महत्त्वपूर्ण रूकावट वाले कारक को समाप्त कर दिया। इसके उपरान्त, 1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैन्य हस्ताक्षेप को लेकर भारत-सोवियत संघ के बीच उभरते मतभेदों ने भी इसे चीन के निकट लाने में मदद की। इसके अलावा, चीन-अमेरिका के संबंधों में आई कटुता के कारण चीन भी भारत की ओर अधिक आकृष्ट हुआ।

इन कारणों से दोनों देशों ने अपनी चुप्पी तोड़ी और वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हुआ। 1981 से 1987 तक दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच वार्ताओं के आठ दौर सम्पूर्ण हुए। इन वार्ताओं में दोनों ओर से स्पष्टीकरण देने के अलावा विभिन्न मुद्दों पर परस्पर सुझाव भी दिए। इसके साथ-साथ सीमाओं के सन्दर्भ में दोनों के बीच काफी जानकारियों का आदान-प्रदान हुआ तथा इससे दोनों के मध्य विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों (सी.बी.एम) का विकास हुआ। इन्हीं वार्ताओं एवं विश्वसनीयता के कदमों ने ऐसा ठोस आधार बनाया जिस पर आगे चलकर दोनों के मध्य सहयोग एवं सद्भावना की मंजिल खड़ी हो सकी।

उपरोक्त तथ्यों से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि यह युग पूर्ण मतभेद रहित था। इसके विपरीत इस काल में दो प्रमुख विषयों को लेकर भारत व चीन के मध्य गहन मतभेद भी थे। सर्वप्रथम विवाद का विषय बाडडोंग में एमडोरंग चू घाटी में चीन द्वारा भारतीय सीमा में घुसपैठ का मामला था। जून 1986 में चीन ने इस विवादास्पद क्षेत्र में घुसपैठ कर कुछ सैन्य चाँकियां भी स्थित कर ली। सूत्रों से पता चला है कि चीन ने वहां हेलीपैड भी बना लिया है। भारत के विरोध जताने पर भी चीन का रवैया नहीं बदला। उम्मीद की जाती है कि जब सम्पूर्ण सीमा विवाद सुलझेगा तभी इस समस्या पर भी शायद कोई आम सहमति बन जाए। दूसरा मुद्दा अरुणाचल प्रदेश को लेकर हुए मतभेद का है। जब भारत सरकार ने 20 फरवरी 1987 को अरुणाचल प्रदेश को भारतीय संघ के 24 वे राज्य के रूप में घोषणा की तब चीन ने कड़ी आपत्ति उठाई यद्यपि बाद में भारत द्वारा आपत्ति उठाई जाने के कारण चीन ने इस मामले को अधिक तूल नहीं दिया।

परन्तु छोटे-छोटे मतभेदों के बावजूद यह काल दोनों देशों के भविष्य के संबंधों में प्रगाढ़ता विकसित करने हेतु अति महत्त्वपूर्ण रहा। एक तो इस युग में दोनों देशों के मध्य संबंध रहितता का दौर समाप्त हो गया जो बहुत सार्थक कार्य रहा। दूसरा इन वार्ताओं के दौर से आपकी गलतफहमियां दूर होने के साथ-साथ दोनों के बीच परस्पर विश्वास बढ़ाने वाले कारकों में वृद्धि हुई। दोनों के बीच उत्पन्न इसी सद्भावना ने सहयोग की नींव रखी जिस पर आज दोनों के सहयोगी एवं मैत्रीपूर्ण संबंधों का भवन खड़ा है। अतः इस युग ने आने वाले सहयोगात्मक संबंधों हेतु पहली सीढ़ी का कार्य किया, जिससे दोनों के परस्पर मधुर संबंधों का मार्ग प्रशस्त हुआ।

17.3.1.5 सहयोगात्मक संबंधों का युग, 1988-1998

यह एक दशक का समय दोनों देशों के संबंधों में बदलाव का अति महत्त्वपूर्ण व प्रभावशाली काल माना जा सकता है। इस काल में दोनों देशों के संबंधों में सुधार विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम, आन्तरिक परिस्थितियों एवं दोनों के परस्पर दृष्टिकोणों में आए परिवर्तनों के कारण हुआ। इनके मुख्य कारण निम्नलिखित थे - प्रथम, अमेरिका की विदेश नीति में बदलाव से दोनों ही देशों ने अमेरिका को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। अमेरिका ने मानवाधिकार के नाम पर जहां एक ओर चीन की तियनामन चौक (1989) की घटना की आलोचनाएँ की, वहीं दूसरी ओर कश्मीर के मुद्दे पर भी मानवाधिकारों के उल्लंघन की दुहाई दी। द्वितीय, 1991 में पूर्व सोवियत संघ के विघटन स्वरूप उत्पन्न स्थिति के कारण भी दोनों देशों के बीच नजदीकियां और बढ़ी। इस विघटन के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर चीन के मुख्य प्रतिद्वन्दी की समाप्ति हो गई, वहीं भारत का एक विश्वसनीय मित्र नहीं रहा। इसके साथ-साथ भारत-सोवियत मैत्री एवं चीन-सोवियत विवादस्वरूप चीन-भारत के मध्य रूकावट पैदा करने वाले कारक की भी समाप्ति हो गई। तृतीय, शीतयुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आये बदलाव स्वरूप विश्व में उभरती हुई एक ध्रुवीय व्यवस्था बनने की स्थिति के कारण दोनों राष्ट्र बहुध्रुवीय व्यवस्था बनाने हेतु सहयोगात्मक प्रयास के रूप में एकजुट होते प्रतीत हुए। इसके अतिरिक्त, दोनों ही देश वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था के स्थान पर एक

न्यायोचित विश्व व्यवस्था बनाने हेतु एकमत प्रतीत हुए। चतुर्थ, विकास व आधुनिकरण की बढ़ती हुई बाध्यताओं तथा भूमण्डलीकरण के दौर में घटते हुए रक्षा खर्चों के कारण भी दोनों देशों के लिए परस्पर मधुर संबंध बनाना अनिवार्य था। पंचम, चीन द्वारा भारत के अपने पड़ोसियों से संबंधों के बारे में आया बदलाव भी इस हेतु काफी हद तक उत्तरदायी रहा है। अब चीन चाहता है कि भारत अपने पड़ोसियों से सभी मुद्दे द्विपक्षीय आधार पर सुलझायें। चीन इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार की नकारात्मक टिप्पणी से बचने लगा है। षष्ठ, शीतयुद्धोत्तर युग में राजनीति के स्थान पर आर्थिक मुद्दों के महत्त्वपूर्ण होने के कारण दोनों देशों के बीच नवीन आर्थिक समीकरणों का उदय होना अनिवार्य बन पड़ा। अन्ततः नई परिवर्तित विश्व व्यवस्था में संयुक्त राष्ट्र की चुनौतियों, सार्थकता एवं भूमिका को लेकर भी दोनों के बीच आम सहमति बनती नजर आने लगी है।

उपरोक्त कारणों से दोनों देशों में बढ़ती नजदीकियों की परिचायक दोनों देशों के राजनैतिक नेतृत्व द्वारा की गई यात्रायें रही। इन यात्राओं में से राजीव गांधी (1988) व पी.वी. नरसिम्हा राव (1993) की चीन यात्राएँ तथा प्रधानमंत्री ली पेंग (1991) व राष्ट्रपति जियांग जमीन (1996) की भारत यात्राएँ ऐतिहासिक रही। राजीव गांधी की चीन यात्रा के दौरान पहली बार दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे सीमा विवाद को अलग रखकर अन्य मुद्दों पर सहयोग बढ़ाने के पक्षधर हैं। सीमा विवाद सुलझाने हेतु दोनों 'संयुक्त कार्यकारी दल' का गठन किया गया जिनकी बैठक हर छः माह बाद वैकल्पिक रूप से दोनों देशों की राजधानियों में हुआ करेगी। इस ऐतिहासिक सहमति के अतिरिक्त, दोनों देशों के मध्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, नागरिक उड्डयन तथा सांस्कृतिक सहयोग के समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए।

1993 में भारतीय प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव की यात्रा को 'एक मील के पत्थर' की संज्ञा दी गई। इस यात्रा के माध्यम से राजीव गांधी द्वारा की गई पहल को स्थायित्व प्रदान करने के कदम के रूप में आंका गया। राजीव गांधी ने जहां सीमा विवाद को अन्य सहयोगात्मक कदमों से अलग रखने का प्रयास किया, वहीं इस यात्रा के द्वारा सीमा विवाद सुलझाने हेतु महत्त्वपूर्ण समझौते हुए जिनका उद्देश्य 'परस्पर एवं समान' सुरक्षा प्रदान करना था। इस यात्रा के दौरान 'नियंत्रण रेखा संबंधित' एक 9 सूत्री समझौता हुआ जिससे सीमा रेखा के पास शांति स्थापित करने की प्रक्रिया को बल मिला। सीमा पर शांति स्थापना की वैद्यता को स्वीकार करते हुए दोनों देश 'नियंत्रण रेखा' को स्वीकार करते हुए दोनों देश 'नियंत्रण रेखा' को ही वर्तमान सीमा रेखा मानने को तदर्थ रूप से तैयार हो गए। जब तक यह स्थाई रेखा नहीं बन जाती दोनों ही इसके पास शांति बनाएँ रखेंगे। चीन की ओर से यात्रा करते हुए प्रधानमंत्री ली पेंग ने दोनों देशों के मध्य विश्वसनीयता को बढ़ाने वाले कदमों को बढ़ावा दिया। दोनों देशों द्वारा 'पंचशील' के सिद्धान्तों में एक बार फिर आस्था व्यक्त करते हुए नई विश्व व्यवस्था के निर्णय में समान भागीदारी, निरस्त्रीकरण, उत्तर-दक्षिण विवाद में कमी, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के पालन आदि विषयों पर सहयोग हेतु सहमति प्रकट की। तीन महत्त्वपूर्ण व्यापारिक समझौतों पर हस्ताक्षर करने के साथ-साथ, व्यापार विभिन्नीकरण तथा सीधे व्यापार पर बल दिया गया।

जियांग जमीन की भारत यात्रा राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से अति महत्त्वपूर्ण थी। राजनैतिक रूप से माओं के बाद जमीन भारत आने वाले ऐसे नेता थे जो राष्ट्रपति के साथ-साथ साम्यवादी दल के महासचिव एवं सेना नियंत्रण आयोग के अध्यक्ष भी थे। इन्होंने चार महत्त्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किए जिनमें से आपसी विश्वास बढ़ाने हेतु नियंत्रण रेखा संबंधित समझौता सामरिक रूप से अति महत्त्वपूर्ण हैं। व्यापारिक दृष्टि से भी पूंजीनिवेश पर नियंत्रण, जहाजरानी तथा व्यापार विभिन्नीकरण के संदर्भ में भी परस्पर सहमति हुई।

अतः इस एक दशक के काल में सामरिक रूप से भारत-चीन सीमा विवाद के बारे में 'संयुक्त कार्यदल' के गठन के साथ-साथ विभिन्न 'विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों' की स्थापना हुई। इन्हीं के कारण न केवल विवादास्पद सीमा रेखा पर शांति बनी रही, अपितु दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण संबंधों की रूपरेखा भी तैयार हुई दूसरे

दोनों देशों के राजनेताओं की परस्पर यात्राओं द्वारा संस्थागत संबंधों का भी विकास हुआ। दोनों देशों के सैन्य अधिकारियों, समुद्री जहाजों के आवागमन, समाचार एजेंसियों में सहयोग, शिक्षा तथा प्रौद्योगिकी से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग की सम्भावनाएँ बढ़ी। सांस्कृतिक रूप से भी एक दूसरे के यहां चीन महोत्सव (1992) तथा भारत महोत्सव (1994) के आयोजनों से जन साधारण में एक दूसरे के देशों के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ी। अन्ततः इन मधुर सम्बन्धों का प्रभाव आर्थिक संबंधों के विकास पर पड़ा जिसकी झलक भारत-चीन के मध्य बढ़ते द्विपक्षीय व्यापार से लगाई जा सकती है। इसका विवरण तालिका -1 में दिया गया है-

तालिका -1
भारत-चीन द्विपक्षीय व्यापार, 1991-98
(अमेरिकी मिलियन डॉलर)

वर्ष	भारत से निर्यात	भारत में आयात	कुल व्यापार	व्यापार संतुलन
1991	120.33	144.48	264.81	+24.15
1992	180.99	158.14	339.39	+22.50
1993	416.57	259.16	675.73	+157.41
1994	322.00	573.00	894.00	-251.00
1995	398.00	765.00	1,162.00	-367.00
1996	719.16	689.54	1,408.70	+29.62
1997	897.26	933.06	1,830.32	-35.80
1998	905.70	1,016.59	1,912.29	-110.89

स्रोत : आर.एस.यादव, 'भारत की विदेश नीति : एक विश्लेषण, इलाहाबाद, किताब महल, 2003 लेकिन संबंधों में इन सुधारों को भारत द्वारा 11 व 13 मई 1998 को किए गए परमाणु परीक्षणों के बाद बड़ा धक्का लगा। इन परमाणु परीक्षणों के बाद चीन ने भारत द्वारा इन्हें स्थगित करने तथा व्यापक परमाणु निषेध संधि पर हस्ताक्षर करने पर बल दिया। परन्तु इस समय भारत के दृष्टिकोण से ही दोनों के मध्य ज्यादा दूरियाँ विकसित हुईं। सर्वप्रथम, भारत के तत्कालीन रक्षामंत्री जार्ज फर्नांडीज ने चीन को भारत का दुश्मन नम्बर एक बताया। द्वितीय, भारत के प्रधानमंत्री द्वारा भी अमेरिका के राष्ट्रपति क्लिंटन को लिखे पत्र में इन परीक्षणों का औचित्य चीन से उत्पन्न सुरक्षा खतरों को ही ठहराया।

अन्ततः इन परीक्षणों के स्पष्टीकरण हेतु भारत ने अपने विशेष दूतों को सभी परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों की राजधानियों में भेजा, परन्तु ऐसा कोई दूत चीन नहीं भेजा। यद्यपि इन कारणों से दोनों के मध्य दूरियाँ, बन गईं तथा 'संयुक्त कार्य दल' की कार्यवाही भी स्थगित कर दी गई, तथापि चीन की प्रतिक्रिया उतनी तीव्र नहीं रही। कई क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश की बाध्यताओं के कारण चीन भारत के साथ अधिक मतभेद नहीं बढ़ा सकता था। अतः मई 1998 के बाद रिश्तों में 'अस्थायी तनाव अवश्य आ गया था जो अधिक समय तक नहीं बना रह सका।

17.3.1.6 नवीन साझेदारी की ओर अग्रसर, (1999-2020)

विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यताओं एवं द्विपक्षीय बाध्यताओं के कारण दोनों के मध्य दूरियाँ नहीं रह सकी। दोनों देशों के नेताओं ने इस समस्या के समाधान हेतु परस्पर सद्भावना यात्राओं द्वारा इसे दूर करने के प्रयास किए। भारत की ओर से जसवन्त सिंह (1999 व 2002) आर.के. नारायणन (2002) जार्ज फर्नांडीज (2003) व अटल बिहारी वाजपेयी

(जून 2003) ने चीन की यात्राएँ की। दूसरी ओर से भी तांग जिक्सुआन (1999), ली पेंग (2001) तथा झू रोंगजी (2002) ने भारत की यात्राएँ की। इन यात्राओं के माध्यम से दोनों देशों के बीच 'संयुक्त कार्यवाही दल' के माध्यम से सामारिक वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हो गया, सीमा रेखा के मध्य भाग के नक्शों का आदान-प्रदान हुआ, राजनयिक संबंधों की स्वर्ण जयंती मनाना, तथा पंचशील के सिद्धान्तों में दोबारा आस्था व्यक्त की गई। इन सभी यात्राओं में जून 2003 की अटल बिहारी वाजपेयी की यात्रा अति महत्वपूर्ण रही। इस यात्रा के माध्यम से दोनों के बीच 'नई साझेदारी' विकसित करने हेतु 23 जून को "संबंधों के सिद्धान्त एवं व्यापक सहयोग" के दस्तावेज के अतिरिक्त अन्य सहयोग के समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए। इन समझौतों में एक समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों के बीच नाथुला दर्रे के रास्ते सिक्किम से होते हुए एक नये व्यापारिक मार्ग को खोलने पर भी सहमति हुई। भारत द्वारा व्यापक दस्तावेज में ही तिब्बत को चीन का एक स्वायत्त क्षेत्र (चीन का अभिन्न अंग) मान लिया गया, तथा इन व्यापारिक समझौते से चीन द्वारा सिक्किम को भारत का अंग मानने की अप्रत्यक्ष कार्यवाही अवश्य शुरू हो गई। शायद निकट भविष्य में चीन भी सिक्किम पर भारत की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लेगा। एक अन्य महत्वपूर्ण समझौते के अन्तर्गत सीमा विवाद के समाधान में तीव्रता लाने हेतु दोनों ने अपने-अपने विशेष प्रतिनिधियों को नियुक्त करने का फैसला किया जो इस समस्या को राजनैतिक दृष्टिकोण से हल करने का प्रयास करेंगे। भारत की ओर से यह उत्तरदायित्व रक्षा सलाहकार ब्रिजेश मिश्र को सौंपा गया है जबकि चीन की ओर से वरिष्ठ उप-विदेश मंत्री दाई बिंगाओं यह जिम्मेदारी निभायेंगे। अतः इन यात्राओं ने, विशेषकर वाजपेयी की चीन यात्रा ने, इनके संबंधों को सुधारते हुए इनके मध्य एक 'सहयोगी साझेदारी' बढ़ाने का कार्य किया।

इन वर्षों में दोनों के संबंधों में आर्थिक, सामरिक एवं राजनैतिक मधुरता का विकास हुआ है जो निम्न स्थितियों से स्पष्ट परिलक्षित होता है—

आर्थिक रूप से, भारत व चीन के बीच व्यापार में बढ़ोतरी निरंतर जारी रही है। भारत व चीन के बीच कुल व्यापार जहां 1999-2000 में 27971 लाख डॉलर था वही 2000-01 में बढ़कर 23075, 2001-02 में 2923 तथा 2002-03 में 38667 लाख डॉलर हो गया। इन व्यापारिक संबंधों को तीव्रता प्रदान करने हेतु दोनों देशों ने मंत्रीस्तरीय 'संयुक्त आर्थिक समूह' (जे.ई.जी.) के महत्त्व को स्वीकारते हुए इसकी सातवीं बैठक एक वर्ष के अन्दर-अपने करने का फैसला किया है। इसके अतिरिक्त, व्यापार एवं अन्य आर्थिक सहयोग बढ़ाने हेतु दोनों देशों ने अपने-अपने अधिकारियों एवं अर्थशास्त्रियों का एक 'संयुक्त अध्ययन दल' (जे.एस.जी.) बनाने का फैसला भी किया है। इसके अतिरिक्त, दोनों देश अपने द्विपक्षीय मुद्दों एवं विकासशील देशों के हितों की पूर्ति हेतु 'विश्व व्यापार संगठन' की कार्यवाही में भी सहयोग पर सहमत हो गए हैं। अन्ततः प्रधानमंत्री की इस यात्रा के दौरान वाजपेयी ने भारत व चीन के संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापक सहयोग की सम्भावनाओं पर बल दिया। उनका मानना था कि यदि दोनों देश सहयोग करें तो दुनिया के संचार प्रौद्योगिकी के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर सकते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सामरिक रूप से यद्यपि परमाणु परीक्षणों पर रोक एवं भारत द्वारा सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर न करने के मामलों पर दोनों में अभी मतभेद बने हुए हैं, लेकिन फिर भी कई सामरिक विषयों पर सहयोग भी जारी है। उदाहरणस्वरूप, दोनों ही देश परमाणु हथियारों के पहले प्रयोग न करने के पक्षधर हैं। दोनों ही देश परमाणु प्रसार के हक में भी नहीं हैं। दोनों ही देश अपने सीमा विवाद को भी शीघ्र सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए शीघ्र ही दोनों अपने पूर्वी व पश्चिमी क्षेत्र के नक्शों का आदान-प्रदान करेंगे। वाजपेयी की वर्तमान चीन यात्रा के समय इस सन्दर्भ में विशेष प्रतिनिधियों, की नियुक्ति भी उनकी इस दिशा में सकारात्मक सोच का परिचायक है। दोनों ही देश अब परस्पर एक दूसरे से असुरक्षित महसूस करने के स्थान पर सहयोगी बनने का प्रयास कर रहे हैं। दोनों के मध्य सामान्य सुरक्षा सहयोग के साथ-साथ सीमाओं के रास्ते व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ने से भी जन मानस के बीच समझ तथा राज्यों के बीच विश्वसनीयता बढ़ेगी।

राजनैतिक रूप से, भी दोनों के परस्पर सम्बन्ध सही दिशा में प्रयासरत हैं। सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के संदर्भ में दोनों ही एकमत हैं। दोनों देश संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को सशक्त करने तथा सुरक्षा परिषद् के प्रजातांत्रिकरण के पक्षधर हैं। इसके साथ-साथ दोनों ही निरस्त्रीकरण व अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण प्रयोग हेतु संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से बहुपक्षीय वार्ताओं पर बल देते हैं। द्वितीय, यद्यपि स्पष्ट रूप से दोनों देशों ने स्वीकार नहीं किया है परन्तु दोनों ही भारत-रूस-चीन त्रिपक्षीय सहयोग बढ़ाने के पक्षधर हैं। पिछले कुछ वर्षों से भारत-चीन, भारत-रूस तथा रूस व चीन संबंधों में निरंतर सुधार इस ओर इशारा करते हैं। रूस के राष्ट्रपति पुतिन की पिछली यात्रा चीन के रास्ते भारत आने से भी इन बातों को और बल मिलता है। तृतीय, दोनों देश शीतयुद्धोत्तर युग में बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के पक्षधर हैं। सोवियत विघटन के बाद अमेरिका के बढ़ते वर्चस्व के प्रति दोनों ही आशंकित हैं। विशेषकर अफगानिस्तान व ईराक के घटनाक्रम के बाद दोनों के बीच शायद यह आशंका और अधिक मजबूत हो गई है। अन्ततः दोनों देश आज अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के खतरों से अवगत ही नहीं हैं बल्कि इसे विश्वशांति व सुरक्षा हेतु बड़े खतरे के रूप में देखते हैं शायद इसीलिए आतंकवाद पर नियंत्रण हेतु दोनों देश एकमत हैं तथा परस्पर सहयोग द्वारा इस स्थिति से निपटना चाहते हैं।

परन्तु उपरोक्त वर्णन का अर्थ यह नहीं है कि उत्तर-पोखरन 2 काल में दोनों के बीच गतिरोध बिल्कुल समाप्त हो गये हैं। दोनों देश आज भी कई मुद्दों पर पूर्णतः सहमत नहीं हैं। आर्थिक रूप से आज भी दोनों के बीच बैंकिंग व अन्य संस्थागत सुविधाओं का अभाव है। गुणवत्ता के बारे में पारदर्शिता, कारोबार से पहले शपथ पत्र हासिल करना, बैंकों के चीन में कारोबार करने, बाजार संबंधित दस्तावेजों का अंग्रेजी में न होना आदि अभी भी कई अड़चने हैं जो भारतीय व्यापार को चीन में प्रसारित करने के मार्ग में रूकावट है। इसके अतिरिक्त आज भी व्यापार संतुलन चीन के पक्ष में बना हुआ है जिसे सुधारना अति अनिवार्य है। इसी प्रकार सामरिक क्षेत्र में आज भी परमाणु व प्रक्षेपास्त्रों के विकास एवं चीन द्वारा पाकिस्तान को इस प्रकार के शस्त्रों की आपूर्ति कराने के मुद्दों पर विभेद जारी हैं। राजनैतिक रूप से भी दोनों के मध्य आज भी विश्वसनीयता बनाने वाले कारक पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पिछले 56 वर्षों के अंतराल में भारत-चीन संबंध उतार चढ़ाव वाले रहे हैं। यद्यपि पिछले 15 वर्षों से निरन्तर इनमें सुधार जारी है तथा काफी हद तक ये संबंध सहयोगात्मक बन रहे हैं। प्रधानमंत्री वाजपेयी की जून 2003 की यात्रा भी इस नवीन साझेदारी के रास्ते में एक महत्वपूर्ण पहल रही है। परन्तु दूरगामी शान्ति व सहयोग हेतु निम्न मुद्दों का स्थाई हल आवश्यक है। प्रथम दोनों देशों को शीघ्र-अति शीघ्र अपने सीमा विवाद को हल करना होगा। द्वितीय, चीन को स्पष्ट रूप से सिक्किम को भारत को अंग मानना पड़ेगा। तृतीय, चीन द्वारा पाकिस्तान को दिए जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों एवं परमाणु सहयोग गतिविधियों को रोकना होगा। चतुर्थ, म्यांमार के माध्यम से हथियार देने या इस देश से हिन्द महासागर में अपनी सैन्य क्षमता का विकास करने पर भी चीन को रोकना होगा ताकि भारत अपने आप को असुरक्षित महसूस नहीं कर सके। अन्ततः आर्थिक सहयोग हेतु व्यापार के ढांचों को सुदृढ़ करते हुए चीन के पक्ष में हुए व्यापार संतुलन को ठीक करना होगा। दोनों देशों के मध्य व्यापार मात्रा को बढ़ाना होगा तथा पूंजीनिवेश एवं संयुक्त उद्यमों के विकास के मार्ग प्रशस्त करने होंगे इन्हीं उपायों के माध्यम से दोनों देशों के मध्य दूरगामी मधुर संबंधों की स्थापना की जा सकती है। यद्यपि दोनों राष्ट्र इस ओर प्रयासरत हैं परन्तु इन दोनों के मध्य विभिन्न क्षेत्रों में हुए विकास की गति पर ही दोनों के भावी संबंधों की दिशा तय होगी। यह सत्य है कि वर्तमान में दोनों ही देश इस ओर साकारात्मक पहल कर रहे हैं।

17.3.2 भारत-पाकिस्तान संबंध

दो पड़ोसी देशों के मध्य विवादास्पद संबंधों की लम्बी शृंखला वाले उदाहरणों में भारत-पाकिस्तान संबंध अति प्रमुख हैं। दोनों के मध्य ऐतिहासिक समानता, सांस्कृतिक एकरूपता, भौगोलिक सामीप्य, आर्थिक अन्तः निर्भरता आदि के

बावजूद मित्रता के बजाय दूर के पड़ोसियों वाले सम्बन्ध बने हुए हैं। 1947 से आज तक इनके संबंध स्पर्धा, संघर्ष एवं युद्धों के दायरे से बाहर नहीं निकल पाए हैं। अध्ययन की सुविधा हेतु इनके संबंधों में आए उतार-चढ़ाव का विश्लेषण पाँच निम्न चरणों में किया जा सकता है।

17.3.2.1 विभाजन व प्रारम्भिक अलगाव, (1947-54)

भारत व पाकिस्तान स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विभाजन, नरसंहार एवं वैमनस्य के दौर से गुजर कर आये। इसीलिए दोनों के संबंधों की शुरुआत मित्रता की बजाय द्वेषपूर्ण संबंधों से हुई। विभाजन से जुड़े कई महत्वपूर्ण मुद्दों ने इनके रिश्तों को जटिल एवं अविश्वसनीयता पूर्ण बना दिया। प्रथम विभाजन के बाद पंजाब व बंगाल की सीमाओं का निर्धारण, सेनाओं का बटवारा, असैनिक सेवाओं का विभाजन, तथा सरकारी सम्पदा एवं देनदारी की समस्या ने इनके रिश्तों में कड़वाहट पैदा कर दी। द्वितीय विभाजन के दौरान दोनों ओर से भारी मात्रा में मुसलमानों तथा हिन्दू व सिखों का पलायन हुआ तथा जो एक दूसरे के यहाँ रह गये वे वहाँ अल्पसंख्यक बन गये। इन अल्पसंख्यकों एवं शरणार्थियों को समस्याओं ने भी दोनों में दूरियाँ पैदा की। तृतीय सिन्धु एवं उसकी सहायक नदियों के पानी के बटवारे को लेकर भी दोनों देशों के बीच विवाद रहा। लगभग 12 वर्षों के विवाद के बाद दोनों देशों की दूरदर्शित एवं विश्वबैंक की भूमिका के बाद 1960 में यह समस्या हल कर ली गई। चतुर्थ विभाजन में पूर्व में बंगाल व पश्चिम में पंजाब के विभाजन के साथ-साथ कई क्षेत्रों के निर्धारण की समस्या अभी भी बनी रही। यद्यपि रेडक्लिफ कमीशन द्वारा यह मामला काफी हद तक हल कर लिया गया, लेकिन सीमाओं को रेखांकित करके सीमाबन्दी करना इतना सरल नहीं था अतः यह समस्या भी दोनों के मध्य तनाव का कारण रही। पंचम दोनों देशों में पलायन के बाद विस्थापितों द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति के आंकलन, वितरण, हर्जाने आदि को लेकर भी मतभेद बने रहे। अन्ततः दोनों के बीच सबसे महत्वपूर्ण विवाद कश्मीर को लेकर हुआ। प्रारम्भ में कश्मीर राज्य ने दोनों देशों से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखा। लेकिन जब पाकिस्तान की सेना ने कबाईलों के भेष में कश्मीर पर आक्रमण कर दिया तब वह 26 अक्टूबर 1947 को सम्पन्न सन्धि के अन्तर्गत भारत का हिस्सा बन गया। परन्तु तब तक पाकिस्तान आधे कश्मीर पर कब्जा कर चुका था जिसे 'पाक अधिकृत कश्मीर' कहते हैं। तब से लेकर आज तक कश्मीर पर अपने आधिपत्य को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव नहीं अपितु युद्ध भी हो चुके हैं। अतः विभाजन के उपरान्त उत्पन्न समस्याओं से यह स्पष्ट है कि दोनों देशों के संबंधों की शुरुआत सुखद नहीं रही। यद्यपि कश्मीर के विवाद को छोड़कर कुछ समस्याओं का समाधान तुरन्त एवं कुछ समस्याओं का समाधान कुछ वर्षों बाद हो गया, तथापि दोनों देशों के मध्य आपसी अविश्वास एवं असहयोग बना रहा। इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों ने परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का समर्थन ही नहीं किया अपितु विरोधाभास पूर्ण विदेश नीतियों का अनुसरण किया। आन्तरिक परिस्थितियों में भी सकारात्मक परिवर्तन की बजाय नकारात्मक पहलुओं का ही वर्चस्व बना रहा। अतः देशों के मध्य दूरियाँ बढ़ती गई तथा सहयोग की सम्भावनाओं का अभाव रहा।

17.3.2.2 संघर्षपूर्ण संबंध, (1955-1971)

यह काल दोनों देशों के संबंधों में अति नाजुक बल्कि संघर्ष की चरम सीमा वाला युग रहा। इस दौरान न केवल तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे, अपितु द्वन्द्वात्मक स्वरूप भी दो युद्धों (1965 व 1971) के रूप में उभर कर आया। इन दो युद्धों के कई निकटवर्ती एवं दूरगामी परिणाम सामने आये। इस काल में इन संघर्षपूर्ण रिश्तों के लिए कई प्रमुख कारण उत्तरदायी रहे हैं। प्रथम 1954 व 1955 में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका समर्थित सीएटो व सैंटो गठबन्धनों में शामिल होने से भारत की विदेश नीति की विपरीत धारा में भाग ले लिया। जहाँ भारत इन सैन्य गुटों से दूरियाँ बनाने का पक्षधर था, वहीं पाकिस्तान उन गठबन्धनों का हिस्सा बन गया। द्वितीय पाकिस्तान चीन के मध्य मित्रतापूर्ण संबंधों का भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा क्योंकि भारत व चीन के बीच 1962 के युद्ध के बाद संबंध विच्छेद हो गए थे। इसके अतिरिक्त 1963 में चीन के साथ हुए सीमा समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने 'पाक अधिकृत

कश्मीर' की 5180 वर्ग किलोमीटर भूमि चीन को हस्तांतरित कर देने से दोनों के संबंधों पर प्रतिकूल असर पड़ा। तृतीय 1965 में पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही ने दोनों के संबंधों को और खराब कर दिया। यद्यपि पूर्व सोवियत संघ की मध्यस्थता के द्वारा 10 जनवरी 1966 के ताशकन्द समझौते से शान्ति स्थापित हो गई परन्तु इस मन मुटाव से आपसी अविश्वास और अधिक बढ़ गया। चतुर्थ 1970-71 में पाकिस्तान का आन्तरिक घटनाक्रम चुनाव मार्शल लॉ लागू होना पूर्वी पाकिस्तान से भारी मात्रा में शरणार्थियों का भारत के विरुद्ध पाक-चीन-अमेरिका त्रिगुट बनना आदि ऐसे कारण रहे जिन्होंने दोनों देशों के तनावों को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अन्ततः 3 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर सीधे युद्ध की कार्यवाही कर दी। इस 14 दिन चले युद्ध में भारत की निर्णायक जीत हुई तथा पाकिस्तान दो राज्यों - पाकिस्तान व बांग्लादेश - के रूप में बट गया। अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों में भी काफी बदलाव देखने को मिले। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति व दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति में भी बदलाव आया।

इस प्रकार दोनों देशों के मध्य संबंधों का यह चरण संघर्षात्मक होने के साथ-साथ अति जटिल रहा है। इस दौर में दोनों के बीच कटुता व वैमनस्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। दोनों युद्ध द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टियों से कई प्रकार से महत्त्वपूर्ण रहे लेकिन इनके माध्यमों से भी दोनों के मध्य स्थाई शान्ति या सहयोग को किसी भी प्रकार से बढ़ावा नहीं मिला। कश्मीर जैसी अडिग समस्या के समाधान हेतु भी कोई पहल नहीं की जा सकी। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध ने तो दोनों के मध्य सभी समीकरणों को ध्वस्त कर दिया। परन्तु इसने पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति में प्रमुख बदलाव लाने के साथ-साथ दक्षिण एशिया का भौगोलिक मानचित्र ही बदल कर रख दिया। इन्हीं बदली हुई स्थिति के कारण दक्षिण एशिया में भारत एक शक्ति के रूप में उभर कर आया। इन सबके परिणामस्वरूप नए द्विपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों ने जन्म दिया, जिसने दोनों के संबंधों में नई पहल करने की परिस्थितियों को जन्म दिया।

17.3.2.3 तनाव शैथिल्य का दौर, (1972-1979)

1971 के युद्ध के बाद थोड़े से समय तक दोनों देशों ने सकारात्मक रिश्तों की पहल की जिसके परिणामस्वरूप दोनों के मध्य तनाव शैथिल्य का दौर आया। शायद यही एक संक्षिप्त काल था जिस दौरान दोनों देश कम-से-कम शत्रुता वाले संबंध नहीं रखते थे। बदली हुई राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों ने दोनों देशों को वास्तविक धरातल पर आकर अपने संबंधों का आंकलन करने पर बाध्य किया। इसके परिणामस्वरूप निम्नलिखित कदमों के कारण दोनों के बीच नजदीकियाँ बनीं। प्रथम 3 जुलाई 1972 में दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों 'शिमला समझौते' पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों ने आपसी विवादों को द्वि-पक्षीय आधार पर हल करने के सिद्धान्त पर सहमति व्यक्त की। द्वितीय इसके बाद बांग्लादेश को भी विश्वास में लेकर युद्धबन्दियोंकी समास्या का समाधान किया गया। तृतीय 22 फरवरी 1974 को पाकिस्तान द्वारा बांग्लादेश को औपचारिक मान्यता देने के बाद तीनों राष्ट्रों के रिश्तों में सुधार आया। चतुर्थ 1974 व 1975 में भारत व पाकिस्तान के बीच कुछ व्यापारिक तथा परस्पर आदान प्रदान के समझौतों पर हस्ताक्षर करने से मधुर संबंध बने। पंचम 1976 में फिर दोनों देशों के मध्य कुछ व्यापारिक एवं गैर व्यापारिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। षष्ठ 14 मई 1976 को हुए समझौते के अन्तर्गत पुनः राजदूतों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ।

उपरोक्त कारणों से दोनों देशों के मध्य दूरियाँ कम हुईं तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की शुरुआत हुई। लेकिन 1977 में दोनों देशों में आन्तरिक परिवर्तन हुए। पाकिस्तान में 5 जुलाई 1977 में लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित भूट्टो सरकार का तख्ता पलट कर जनरल जियाउलहक ने सत्ता सम्भाल ली। परन्तु इस घटना का दोनों देशों के द्वितीय-पक्षीय मुद्दों पर नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। इसका प्रमुख कारण यह हुआ कि भारत में भी लम्बे अन्तराल के बाद कांग्रेस दल को सत्ता से बाहर कर जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार की विदेश नीति के एजेन्डा

में 'पड़ोसियों से मधुर संबंध' बनाना वरीयता का विषय था। अतः पाकिस्तान से भी संबंधों को सुधारना चाहते थे। इसीलिए शायद जियाउलहक द्वारा भुट्टों को मृत्युदंड देने को भी वहां का आन्तरिक मामला बताकर प्रतिक्रिया व्यक्त की। इसके अतिरिक्त, इस युग में दोनों देशों ने 'सलाल बिजली परियोजना' पर सहमति व्यक्त करते हुए संबंधों को और मधुर बना दिया। इस प्रकार 1972-79 का युग दोनों के बीच तनाव रहित एवं मित्रता हेतु प्रयासरत संबंधों का युग माना जा सकता है।

17.3.2.4 उतार-चढ़ाव का दौर, (1980-98)

यह काल पुनः संघर्ष काल के रूप में उभर कर आया, जिसमें एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ दोनों ही देश परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी में आ खड़े हुए। इस प्रकार इस काल में अनेक प्रकार के घटनाक्रम हुए जिससे दोनों देशों में तनाव व शान्ति का मिश्रित दौर चला।

उनके बीच तनाव बढ़ने के ये प्रमुख कारण थे – प्रथम, 1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेप कर शीतयुद्ध को इन दोनों राष्ट्रों के करीब ला दिया। परन्तु इसका लाभ पाकिस्तान को मिला क्योंकि पाकिस्तान इस समय अमेरिका की रणनीति वाला अग्रिम राष्ट्र बन गया। इसी कारण इसे अमेरिका से भरपूर आर्थिक सहायता एवं हथियार प्राप्त हुए जिससे भारत के विरुद्ध इसकी स्थिति मजबूत बन गई। दूसरी ओर इस घटनाक्रम से भारत व सोवियत संघ के बीच रिश्तों में दरारें पड़ गईं क्योंकि भारत इस समस्या को राजनैतिक दृष्टि से हल करने का पक्षधर था, न कि सैन्य साधनों द्वारा। द्वितीय इस काल में पाकिस्तान ने न केवल पंजाब व कश्मीर में आंतकवादियों को सहायता प्रदान की, अपितु अपने क्षेत्र में आंतकवादी प्रशिक्षण शिवरों का आयोजन भी किया। यद्यपि सिंध व बलुचिस्तान में हो रहे अलगाववादियों के आन्दोलनों को सहायता प्रदान करने के भी आरोप पाकिस्तान ने भारत पर लगाये, जो प्रमाणिक नहीं थे। इस प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों के कारण दोनों के मध्य दूरियाँ अवश्य उत्पन्न हो गईं। तृतीय, अफगानिस्तान की घटना के पश्चात दोनों देशों के मध्य हथियारों की होड़ को भी बढ़ावा मिला। एक ओर अमेरिका ने पाकिस्तान को 1979 में 400 मिलियन डॉलर (जो पाकिस्तान ने टुकरा दी) 1981 में 4.2 बिलियन डॉलर तथा, 1988 में 402 बिलियन डॉलर की सहायता प्रदान की। अमेरिका ने इस सहायता के अन्तर्गत एक 16 लड़ाकू विमान, सी हॉक प्रक्षेपास्त्र, आवाक्स पूर्व चेतावनी लड़ाकू विमान, साईडवाइंडर प्रक्षेपास्त्र, पनडुब्बियाँ आदि प्रदान की। दूसरी ओर भारत को भी पूर्व सोवियत से 1980 में 1.6 बिलियन डॉलर तथा 1981 में 3 बिलियन डॉलर के हथियारों की आपूर्ति के समझौतों पर हस्ताक्षर किए। चतुर्थ, दोनों देशों द्वारा परमाणु क्षमता विकसित व हासिल करना भी इन दोनों के गैर-मैत्रीपूर्ण संबंधों का परिचायक है। भारत द्वारा 1974 में पोखर-1 में शान्तिपूर्ण उद्देश्यों हेतु किए गए परिक्षण के पश्चात दोनों देशों में परमाणु शक्ति प्राप्ति की होड़ लग गई। भारत के कार्यक्रमों के जवाब में पाकिस्तान ने विदेश से चोरी की गई तकनीकों के माध्यम से अब्दुल कादिर खान के नेतृत्व में 1984 में परमाणु कार्यक्रमों हेतु 'यूरेनियम संवर्द्धन' क्षमता तथा 1979 में परमाणु बम्ब की क्षमता प्राप्त कर ली। इससे दोनों के बीच सन्देह की स्थिति और गम्भीर हो गई। पंचम, परमाणु क्षमता के साथ-साथ प्रक्षेपास्त्र विकसित करने हेतु भी दोनों में होड़ लग गई। जहां भारत ने अपने 'एकीकृत प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम' के माध्यम से माध्यम से पाँच-अग्नि, पृथ्वी, त्रिशुल, नाग, आकाश-प्रक्षेपास्त्र विकसित करने के प्रयास किए, वहीं पाकिस्तान ने चीन व उत्तरी कोरिया से प्रक्षेपास्त्रों का आयात चोरी छिपे मंगाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रक्रिया ने भी दोनों के मध्य अविश्वास प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। षष्ठ, हिन्दमहासागर में बाह्य ताकतों की सेनाओं की उपस्थिति को लेकर भी दोनों के विरोधी दृष्टिकोण रहे। भारत इस क्षेत्र के सैन्यीकरण के हमेशा विरुद्ध रहा है, जबकि अफगानिस्तान के सन्दर्भ को लेकर अमेरिका इस क्षेत्र में 19 देशों की एक 'सामरिक केन्द्रीय कमाण्ड' व्यवस्था का पाकिस्तान एक सदस्य रहा। सप्तम, 1984 से 1987 तक सियाचीन ग्लेशियर को लेकर भारत व पाकिस्तान के मध्य विवाद की स्थिति बनी रही। यह क्षेत्र सामरिक रूप से महत्वपूर्ण है। इस पर 1947 से 1984 तक भारत का कब्जा

रहा, परन्तु 1984 में अचानक पाकिस्तान द्वारा कब्जा करने की कोशिश से दोनों के बीच विवाद उत्पन्न हो गया। यद्यपि 1987 में यह शान्त हो गया, लेकिन इसका पूर्ण हल दोनों की सीमाओं के आंकलन के बाद ही हो पायेगा। अष्टम 1987 में दोनों देशों द्वारा परस्पर किया जाने वाला वार्षिक सैन्य अभ्यास भी तनाव का कारण बन गया था। भारत ने तीन वर्ष बाद पाकिस्तान सीमा के निकट 1987 में ब्रासटेक 'नाकम सैन्य अभ्यास करने की योजना बनाई। भारत इस महत्वपूर्ण अभ्यास के द्वारा अपने सभी आधुनिकतम शस्त्रों की विश्वसनीयता जानना चाहता था। परन्तु पाकिस्तान को इससे खतरे की आशंका हो गई तथा उसने भी अपनी सीमा में 'जरबेमोमिन' अभ्यास शुरू कर दिया। अतः दोनों द्वारा किये जाने वाले अभ्यास से एक बार फिर युद्ध की सम्भावनाएँ दिखाई देने लगी।

उपरोक्त विषयों पर मतभेदों का अर्थ यह नहीं था कि दोनों देशों के मध्य आम सहमति का बिल्कुल अभाव था। बल्कि कुछ मुद्दों पर दोनों के बीच इस समय में समझौते तो भी हुए एक दूसरे के परमाणु संयन्त्रों पर हमला न करने सैन्य अभ्यासों की पूर्व जानकारी देने सैन्य डायरेक्टरों के मध्य सीधी टेलीफोन सेवा, वायु सीमा के प्रयोग की अनुमति, रासायनिक हथियारों के प्रयोग पर निषेध आदि मुद्दों पर दोनों के बीच पूर्ण सहमति बन गई। परन्तु कुछ मुद्दों पर सहमति बनाने के प्रयास दोनों देशों को करने पड़ेगे।

शीतयुद्धोत्तर युग में जहां सारी दुनिया में मूलभूत परिवर्तन देखने को मिले वैसी स्थिति भारत-पाक संबंधों में दृष्टिगोचर नहीं रही। ऐसा शायद इसलिए नहीं हो सका क्योंकि दोनों के मध्य अवरोधक पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुए थे। इसके अतिरिक्त, विभिन्न विश्वास पैदा करने वाले कदमों का विकास तथा विभिन्न दृष्टिकोणों में परिवर्तन अभी तक शायद नहीं हो पाया था। निम्नलिखित तत्वों ने इस प्रकार के संबंधों हेतु प्रमुख कारणों का कार्य किया—प्रथम, शीतयुद्धोत्तर युग में कश्मीर में आतंकवाद तथा उसे सीमापार से सहयोग की प्रक्रिया में बदलाव नहीं आया। द्वितीय दोनों देशों ने अपनी पुरानी वैमनस्य पूर्ण नीतियों का त्याग नहीं किया। तृतीय 6 दिसम्बर 1992 की बाबरी मस्जिद तोड़ने की घटना ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक ताकतों को और मजबूत किया। चतुर्थ, 12 मार्च 1993 में हुए बम्बई बम्ब विस्फोटो ने धार्मिक कट्टरता को चरम सीमा पर पहुंचा दिया। पंचम, पाकिस्तान द्वारा अमेरिका से हथियार प्राप्त करने के कारण दोनों देशों के मध्य अविश्वास और बढ़ गया। षष्ठ, सोवियत संघ के विघटन के बाद पाकिस्तान मध्य एशियाई बनाने गणराज्यों के साथ विशिष्ट, गठबन्धन बनाने में लीन हो गया। अतः इन सभी कारणों से शीतयुद्धोत्तर युग में शान्ति का लाभांश भारत व पाकिस्तान संबंधों तक नहीं पहुँचा।

भारत में संयुक्त मोर्चा की सरकार, निशेषकर इन्द्रकुमार गुजराल के समय द्वारा पड़ोसियों से मित्रता पूर्वक संबंधों हेतु 'गुजरात सिद्धान्त' स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत अपने पड़ोसियों को एक तरफा रियायत देकर भारत में उनसे मधुर संबंधों का प्रयास किया। इस प्रयास के बावजूद कश्मीर, सियाचीन, बुलर, दुलबुल सिंचाई परियोजना, सर क्रिक आदि समस्याओं के स्थाई समाधान के बिना दोनों देशों के बीच दूरगामी संबंधों की कामना करना व्यर्थ है। इस प्रकार शीतयुद्धोत्तर युग में भी कई मुद्दों पर दोनों देशों की समान बाध्यताएँ एवं जरूरते होने के बावजूद भी दोनों के बीच महत्वपूर्ण अवरोधक तत्व व्याप्त हैं। भविष्य में दोनों के बीच मधुर संबंधों एवं मित्रता हेतु बाह्य एवं आन्तरिक तत्वों में परिवर्तन होना अनिवार्य हैं, वरना शीतयुद्धोत्तर युग में भी इस दोनों राष्ट्रों के बीच शीतयुद्ध जैसी स्थिति जारी रहेगी।

मई 1998 में हुए पोखरण-2 व छगाई में हुए परमाणु विस्फोटो के बाद यह परिवर्तन देखने को मिला। शायद पहली बार दोनों शस्त्र होड़ में एक दूसरे से बराबरी पर आ गये थे। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का सामना भी दोनों को ही समान रूप से परेशान कर रहा था। शायद इसी कारण से दोनों वार्ताओं हेतु सहमत हो गए। फरवरी 1999 में वाजपेयी की लाहौर यात्रा व बस राजनय के अन्तर्गत दोनों के मध्य लाहौर घोषणा पत्र, सहमति के ज्ञापन, एवं संयुक्त वक्तव्य पर आम सहमति बन सकी। अतः इस उतार-चढ़ाव के दौर में दोनों के वैमनस्य संबंधों से सदभावना तक की यात्रा कई कारणों के सकारात्मक व नकारात्मक परिणामों के कारण हुई।

17.3.2.5 कारगिल युद्ध से पुनः संबंध स्थापना तक (1999–2020)

लाहौर यात्रा से उत्पन्न आशावादी संबंधों की परिणति अधिक देर तक न रह सकी। लाहौर भावना के क्रियान्वयन से पूर्व ही पाकिस्तान द्वारा भारत पर कारगिल युद्ध थोप कर आपसी संबंधों को पुनः वैमनस्य पूर्ण बना दिया। कई सन्दर्भों में यह युद्ध 1948, 1965, 1971 के समकक्ष ही था। इस युद्ध ने यह भी साबित कर दिया कि भारत-पाक संबंधों में हमेशा संघर्ष से शान्ति व फिर संघर्ष ही मात्र विकल्प है सहयोग नहीं।

यहां यह महत्वपूर्ण नहीं है कि किन कारणों से पाकिस्तान ने भारत पर युद्ध किया था भारतीय गुप्तचर व्यवस्था पाकिस्तान की इस घुसपैठ के बारे में समय पर पता क्यों नहीं लगा सकी। यह भी अब ज्यादा अर्थ नहीं रखता कि भारत ने पूरा संयम बरतते हुए किस प्रकार अन्ततः पाकिस्तान सेना को नियन्त्रण रेखा के पार भेजा तथा अपना क्षेत्र खाली कराने में सफलता प्राप्त की। परन्तु यह सत्य है कि उपरोक्त युद्ध के बहुत से निकटवर्ती एवं दूरगामी परिणाम निकले जिनका दोनों देशों के संबंधों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इनमें से मुख्य केन्द्र बिन्दु बाते निम्न रही—प्रथम इस युद्ध से यह भ्रम टूट गया कि दोनों देशों की परमाणु क्षमता इनके मध्य ऐ निरोधक का कार्य कर सकती है। द्वितीय इससे लाहौर भावना के शान्ति व सुरक्षा पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभावों का अन्त हो गया अर्थात् लाहौर भावना निरस्त हो गई। तृतीय, कटटरवाद का गम्भीर खतरा भारत के निकट पड़ोस में स्थापित हो गया। चतुर्थ पाकिस्तान द्वारा मुजाहीदीन, तालिबान एवं कई इस्लामी संगठनों के तालमेल से यह संकेत मिले कि अब यह संकट दोनों देशों की सीमाओं तक सीमित न रह कर पश्चिमी एवं मध्य एशियाई गणराज्यों एवं दक्षिण एशिया से जुड़कर अत्यन्त गम्भीर बन गया। पंचम इससे भारत-पाक विवादों के अन्तर्राष्ट्रीय कारण एवं बाह्य हस्तक्षेप की सम्भावनाएं बढ़ गईं। अन्ततः इस युद्ध ने भारत-पाक संबंधों में पिछले कुछ वर्षों से स्थापित सभी विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों की पहल को समाप्त कर दिया।

कारगिल युद्ध के तुरन्त बाद 12 अक्टूबर 1999 में पाकिस्तान में निर्वाचित सरकार का तख्ता पलट कर सैनिक शासक की स्थापना हो गई। इस प्रक्रिया से दोनों के रिश्तों में सुधार की सम्भावनाओं को और धक्का लगा। पाकिस्तान के सैनिक शासक जरनल परवेज मुशरफ की कारगिल युद्ध में मुख्य भूमिका के कारण मामला और गम्भीर हो गया। आतंकवादी घटनाओं में और बढ़ोतरी होने लगी। 1 अक्टूबर को जम्मु विधानसभा वर आतंकवादी हमले एवं दिसम्बर में आई सी-814 विमान के कन्धार अपहरण ने संबंधों में और कड़वाहट पैदा कर दी। यह तनाव का दौर पूरे वर्ष 2000 में बना रहा।

इस तनावपूर्ण स्थिति को सामान्य करने हेतु, कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के कारण शायद भारत ने रिश्तों में सुधार की पहल की। इस पहल के अन्तर्गत 14,16 जुलाई 2001 में 'आगरा शिखर वार्ता' का आयोजन किया गया। भारत द्वारा इस यात्रा की सफलता की कामनाओं के बावजूद यह सम्मेलन विफल रहा। इसकी विफलता में कई कारणों का योगदान रहा जिनमें मुख्य रूप से वार्ताओं के प्रारम्भ होने से पूर्व विषय सूची तय करना, जनरल मुशरफ द्वारा कश्मीर को केन्द्र बिन्दु मानना, भारत में आकर भी पाकिस्तानी शासक द्वारा राजनयिक प्रोटोकॉल का पालन न करना आदि। यद्यपि यह सम्मेलन विफल रहा लेकिन सरकार ने अपनी सफाई में इसे वार्ताओं की पहल प्रक्रिया में रूप में लिया।

इससे भी गम्भीर मामला 13 दिसम्बर 2001 को पाकिस्तानी आतंकवादियों द्वारा संसद पर किया गया हमला था। इस हमले के परिणामस्वरूप दोनों देशों के संबंध सुधार की प्रक्रिया को गहरा आघात पहुंचा। इसके कारण दोनों देशों के मध्य बस, रेल व हवाई सेवाये बन्द कर दी गईं, भारतीय उच्चायुक्त को वापिस बुला लिया गया, उच्चायोग में स्टाफ की संख्या आधी कर दी गई, तथा दोनों देशों के परस्पर वायुमार्गों के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया। इस सबसे गम्भीर भारत ने सीमाओं पर फौजों की तैनाती के साथ "ऑपरेशन पराक्रम" शुरू कर दिया। दोनों देशों के बीच तनाव और बढ़ गया। दोनों देशों द्वारा परस्पर प्रक्षेपास्त्रों के परीक्षणों को तीव्र करने से दोनों के

बीच होड़ बढ़ गई। दोनों के मध्य बातचीत बिल्कुल समाप्त हो गई। परन्तु कई अन्तर्राष्ट्रीय दबावों, संसाधनों पर बढ़ते खर्च सेना की तैनाती से विशेष परिणाम न आने आदि कारणों से शायद 16 अक्टूबर 2002 को फौजों की वापसी शुरू हो गई। अन्ततः 18 अप्रैल 2003 को श्रीनगर में अपनी आम सभा में प्रधानमंत्री वाजपेयी ने पुनः पहल कर पाकिस्तान की और दोस्ती का हाथ बढ़ाया है। इसके बाद दोनों के बीच बस सेवा प्रारम्भ हो गई है। रेल यातायात व वायुमार्ग भी जल्द खुल जायेंगे। दोनों देशों के उच्चायुक्तों ने अपना-अपना कार्यभार सम्भाल लिया है। इन सभी विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों के बावजूद भी दोनों देशों के बीच रिश्तों को सामान्य करने हेतु समय लगेगा।

भविष्य में भारत व पाकिस्तान के संबंधों का सामान्य एवं अन्ततः मधुर होना विभिन्न कारकों की भूमिकाओं पर निर्भर करेगा—प्रथम पाकिस्तान में प्रजातन्त्र की बहाली दोनों देशों के दूरगामी एवं स्थाई रिश्तों के लिए अति अनिवार्य है। द्वितीय, दोनों ही देश तीसरे देश की मध्यस्थता से कितना ही इन्कार करे, परन्तु दोनों ही आज अमेरिका की भूमिका से काफी हद तक प्रभावित हुए हैं। तृतीय, वर्तमान समय में दोनों देशों के आर्थिक कारकों का दबाव समूह के रूप में कार्य करना भी इनके संबंधों में बदलाव ला सकता है। चतुर्थ दोनों ही देशों को कश्मीर समेत सभी मुद्दों पर एक समग्र रूप में प्रयास हेतु एक दिशा निर्देश पर सहमति व्यक्त करनी होगी। पंचम, दोनों देशों को नियन्त्रण रेखा के सही निर्धारण एवं आंकलन पर सहमत होना होगा। अन्ततः दोनों देशों द्वारा शिमला समझौता एवं लाहौर घोषणा के ढांचों को स्वीकारते हुए उनकी भावनाओं के अनुरूप ही बातचीत का दायरा तक करना पड़ेगा।

परन्तु वर्तमान संबंधों की स्थिति को देखते हुए यह सब इतना सरल नहीं लगता। दोनों देशों के संबंधों के इतिहास के देखते हुए भी इस प्रकार की सम्भावनाएं बहुत कम हैं। यद्यपि इनके जटिल मतभेदों से परस्पर द्विपक्षीय ही नहीं अपितु क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इसीलिए दोनों की परस्पर बाध्यताओं के साथ-साथ क्षेत्रीय एवं विश्वस्तरीय ताकतों भी इन पर दबाव बनाये हुए हैं परन्तु इन सबका कितना सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा तथा इनके भावी संबंध किसी प्रकार के होंगे यह सिर्फ समय ही बतायेगा।

17.3.3 भारत श्रीलंका संबंध (Indo-Sri Lanka Relations)

भारत व श्रीलंका के संबंधों में सहयोग एवं संघर्ष का मिश्रण देखने को मिलता है। दोनों ही एक ही क्षेत्र में स्थित होने के बावजूद भौगोलिक, सामरिक, संसाधनों के विकास, आर्थिक व राजनैतिक सन्दर्भों में विभिन्नता रखते हैं इसी प्रकार दोनों के विभिन्न राष्ट्रीय हित एवं प्राथमिकताओं के कारण उतार चढ़ाव देखने को मिलता है। कुछ हद तक दोनों के संबंधों में राजनैतिक विरासत एवं भौगोलिक सामीप्य से पड़ने वाले अधिप्लावन प्रभावों का असर भी देखने को मिलता है। अध्ययन की सुविधा हेतु इनके संबंधों को चार प्रमुख चरणों में वर्णन किया जा सकता है। जो इस प्रकार से हैं।

17.3.3.1 मतभेदपूर्ण संबंध (1948—1956)

श्रीलंका में संयुक्त राष्ट्रीय दल के प्रारम्भिक कार्यकाल के दौरान दोनों देशों की विरोधी विदेश नीति अभिमुखन के कारण दोनों के बीच मतभेद बने रहे। श्रीलंका जहां अंग्रेजी सैन्यगठबन्धन का हिस्सा रहा, अपने नौसैनिक व हवाई अड्डों को इंग्लैंड को प्रयोग हेतु देता रहा, वहीं भारत गुटनिरपेक्षता व सैन्य गठबन्धनों से दूरी की बात करता था। इसके अतिरिक्त, चीन व पाकिस्तान से श्रीलंका की मित्रता, सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेना, उपनिवेशवाद की परिभाषा आदि मुद्दों पर भी दोनों के परस्पर विरोधी विचार आवश्यक था। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि दोनों देश प्रत्येक मुद्दों पर मतभेद रखते थे। उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष, इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता, गुटनिरपेक्षता में आस्था, राष्ट्रमण्डल की सदस्यता, प्रवासी भारतीयों की समस्या के समाधान के सन्दर्भ में, सैन्य गठबन्धनों में शामिल होने जैसे कई ऐसे विषय थे जिन पर दोनों समान राय रखते हैं। शायद इसी कारण से 1954

में श्रीलंका में बसे तमिल भारतीयों की समस्या के समाधान हेतु नेहरू—कोटेलवाला समझौता हस्ताक्षरित हुआ। अतः कुल मिलाकर प्रारम्भिक वर्षों में दोनों देशों के संबंध मैत्रीपूर्ण तो नहीं थे परन्तु उन्हें वैमनस्य पूर्ण संबंधों की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

25.3.3.2 मित्रतापूर्ण संबंध (1956—1976)

श्रीलंका में एस.डब्ल्यू.आर.डी. भण्डारनायके (1956—59) तथा श्रीमती भण्डारनायके (1950—65) की सरकारों के समय दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों की शुरुआत हुई। सरकार की विदेश नीति भारतीय विदेश नीति से काफी हद तक समानता रखती थी। इस सरकार ने सत्ता में आते ही अपने यहां से नौसैनिक एवं हवाई अड्डों के प्रयोग पर बाह्य शक्तियों को पूर्ण रूप से रोक दिया। इसके साथ-साथ इन्होंने गुट निरपेक्षता की नीतियों का बहुत सशक्त रूप से पालन किया। बाह्य मसलो जैसे स्वेज संकट, तिब्बत मामला आदि विषयों पर भी भारत के रुख का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त, प्रवासी भारतीयों के विषय पर फिर श्रीमती भण्डारनायके—लालबहादुर शास्त्री समझौता हुआ ताकि बाकी बचे हुए पहलुओं को हल किया जा सके।

इस काल में संबंधों को सुदृढ़ बनाने की दिशा में नेहरू ने मई 1957 में तथा श्री भण्डारनायके ने नवम्बर 1956 तथा दिसम्बर 1957 में परस्पर एक दूसरे के यहाँ यात्राएँ की। सहयोग की प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाते हुए श्रीलंका ने कई विषयों पर भारत की पहल का साथ दिया। 1960 में गोवा के विषय पर श्रीलंका ने भारत के समर्थन में अपनी प्रतिक्रिया दी। गुटनिरपेक्षता की नीति का भी बहुत ही स्पष्टता से अनुसरण किया। प्रवासियों की समस्या हेतु 1964 में दोबारा श्रीलंका व भारत के बीच समझौता हुआ।

1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने पर उसे आक्रमणकारी घोषित नहीं करने पर दोनों के बीच मतभेद भी उभरे। लेकिन इस समस्या का दूसरा पहलू यह भी है कि इस आक्रमण के पश्चात श्रीलंका की पहल पर ही छः गुटनिरपेक्ष देशों का कोलम्बो में सम्मेलन बुलाया गया ताकि इस समस्या का समाधान किया जा सके। यद्यपि यह सम्मेलन बहुत सफल नहीं रहा क्योंकि समस्या का कोई समाधान नहीं निकला। परन्तु इस पूरे प्रकरण में श्रीलंका की सकारात्मक पहल व भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

श्रीमती भण्डारनायके की सरकार की हार के बाद 1965—70 तक डुडले सेनानायके सरकार का गठन हुआ परन्तु अन्ततः दोबारा श्रीमती भण्डारनायके सत्ता में आ गई। इस कार्यकाल (1970, 1977) में भी दोनों के मध्य सहयोग विकसित हुआ। सर्वप्रथम दोनों देशों के प्रयास से ही दिसम्बर 1971 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा हिन्दमहासागर को 'शान्तिक्षेत्र' घोषित कर दिया। द्वितीय, श्रीलंका में सरकार विरोधी गतिविधियों को दबाने में सन्दर्भ में भारत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। तृतीय, 1974 में भारत ने उदारता दिखाते हुए कच्छद्वीप का टापू श्रीलंका को सौंप दिया। चतुर्थ, 1971 के भारत पाक युद्ध के दौरान श्रीलंका ने तटस्थता का रुख अपनाया। अन्तः जातीय समस्या को हल करने हेतु दोनों देशों ने 1974 में इन्दिरा गाँधी—भण्डारनायके संयुक्त प्रयास एवं समझौते के आधार पर इसे स्वीकृत किया गया। अतः यह कार्यकाल दोनों देशों के सम्बन्धों को अत्यन्त मधुर काल रहा है।

17.3.3.3 तनावपूर्ण संबंध (1977—1994)

इस काल में जयावर्द्धने (1977—87) एवं प्रेमदासा (1988—93) की सरकारों के कार्यकाल में तमिल प्रवासियों की समस्या ने एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन कर दोनों देशों के मध्य तनावपूर्ण संबंध बनाये रखे। 1981 व 1983 के तमिल—सिंहली दंगो ने 1958 व 1977 में हुए दंगों की पुनरावृत्ति ही नहीं की बल्कि उसके घोर निराशावादी स्वरूप का प्रदर्शन किया। इस समस्या की गम्भीरता व बाद में तमिलवासियों द्वारा अलग तमिल राज्य की मांग को लेकर श्रीलंका में काफी खून बहा। भारत की इसके अधिप्लावन प्रभाव से नहीं बच सका। इसीलिए श्रीलंका एवं भारत सरकार के मध्य हमेशा तनाव की स्थिति बनी रही।

इस समस्या को सुलझाने हेतु दोनों देशों के बीच 26 मई 1987 को राजीव गाँधी-जयावर्द्धन समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते की धाराओं 2.14-2.16 (C) के अन्तर्गत भारत ने श्रीलंका में शान्ति सेना भेज दी। इस शान्ति सेना को भेजने का सरकार के एक गुट ने विशेषकर प्रधानमंत्री प्रेमदासा ने खुल कर विरोध किया तथा कई बार मांग उठाई कि शान्ति सेना को वापिस लिया जाए। उधर दूसरी ओर तमिल संगठनों जैसे एल.टी.टी.ई. आदि ने भी इसका विरोध किया, क्योंकि भारतीय सेना श्रीलंका के सैनिकों के साथ इसके विरुद्ध लड़ाई लड़ रही थी। श्रीलंका में यह रोष सरकार व तमिलों के साथ-साथ वहाँ के आम नागरिकों में भी देखने को मिला। उदाहरणस्वरूप, जब राजीव गाँधी ने श्रीलंका की राजकीय यात्रा की तब 30 जुलाई 1987 को सलामी गारद के एक सिपाही ने राजीव गाँधी पर जान लेवा हमला कर दिया। अतः प्रेमदासा के राष्ट्रपति बनते ही भारत द्वारा बिना कार्य सम्पन्न किए अपनी शान्ति सेना को वापिस बुलाना पड़ा।

अतः इस युग में दोनों देशों के संबंध अत्यन्त तनावपूर्ण रहे। इस समय में भारत की छवि धूमिल होने के साथ-साथ दोनों के संबंधों पर भी प्रतिकूल असर पड़ा। पहले तो श्रीलंकावासी ही शायद भारत को एक उग्र एवं शक्ति पर आधारित राष्ट्र के रूप में देखते थे, परन्तु राजीव-जयवर्द्धन समझौते के बाद तो तमिल में भारत की छवि खराब हो गई। शायद इसीलिए निकट पड़ोसी एवं एक ही जाति के लोगों की बड़ी संख्या के बावजूद भारत की भूमिका अब प्रभावी नहीं रही। राजीव गाँधी की हत्या में भी एल.टी.टी.ई. के उग्रवादियों का हाथ होने के कारण अब भारत ने उन लोगों की समस्याओं के बारे में सोचना छोड़ दिया तथा न ही भारत का कोई प्रभाव अब इन संगठनों पर शेष है।

17.3.3.4 मधुर सम्बन्धों की पुनः वापसी (1994-2003)

सन् 1994 में श्रीलंका में सत्ता परिवर्तन के बाद श्रीमती चन्द्रिका कुमार तुंगा (सुपुत्री श्री व श्रीमती भण्डारनायके) के शासन की बागडोर सम्भालने (अगस्त में प्रधानमंत्री एवं नवम्बर में राष्ट्रपति) के बाद दोनों देशों के रिश्तों में तेजी से सुधार हुआ। इस प्रकार श्रीमती तुंगा ने एक बार फिर अपने पिता एवं माता के कार्यकाल की तरह दोनों के बीच अच्छे संबंध बनाने का प्रयास किए।

सत्ता परिवर्तन के बाद श्रीलंका के विदेश मंत्री ने अक्टूबर 1994 में भारत की यात्रा कर आपसी सहयोग के मुद्दों पर विश्वसनीयता बढ़ाने की कोशिश की। श्रीमती कुमार तुंगा द्वारा 1995 में राजकीय व 1996 में गैर राजकीय यात्राओं ने दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय सहयोग को गति प्रदान की। इसी समय भारत द्वारा भी 'गुटराल सिद्धांत' के द्वारा पड़ोसियों से वरीयता के आधार पर संबंध सुधारों की बात हो रही थी। अतः दोनों के मधुर संबंध होना अनिवार्य हो गया। द्विपक्षीय के आधार के साथ-साथ भारत के क्षेत्रीय सन्दर्भ में भी श्रीलंका से अच्छे संबंधों का प्रयास किया। मूलतः यह प्रयास दक्षिण के माध्यम से किया। परन्तु इसके साथ-साथ 1997 से 'बांग्लादेश, भारत, म्यांमार, श्रीलंका, थाईलैंड आर्थिक सहयोग (बी.आई.एम.एस.टी.ई.सी.) एवं 'हिन्दमहासागर टिम-क्षेत्रीय सहयोग संगठन (आई.ओ.सी.ए.आर.सी.) के माध्यम से भी सहयोग विकसित करने के कारगर प्रयास किए।

भारत में 1998 में राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक गठबन्धन की सरकार आने के बाद भी इनके संबंधों में सुधार जारी रहे क्योंकि यह नई सरकार भी पड़ोसियों से मधुर संबंधों की पक्षधर है। मई 1998 में पोखरन-2 घटनाक्रम का भी दोनों देशों के संबंधों पर प्रतिकूल असर नहीं पड़ा। श्रीमती कुमार तुंगा द्वारा दिसम्बर 1998 में की गई भारत की यात्रा इसका प्रमाण है। उनकी इस यात्रा के दौरान मुक्त व्यापार की ओर बढ़ने हेतु दोनों देशों ने कई द्विपक्षीय आर्थिक समझौते किए जिनके आधार पर काफी वस्तुओं को आयात निर्यात करने पर परस्पर कर-मुक्त कर दिया। इससे दोनों के व्यापार में बढ़ोतरी के साथ-साथ श्रीलंका का व्यापार घाटा कम होगा तथा क्षेत्रीय सहयोग को भी बढ़ावा मिलेगा। इन संबंधों को मजबूती प्रदान करने हेतु विदेश मंत्री जसवन्त सिंह ने जून 2000 तथा इससे पूर्व श्रीलंका के विदेश मंत्री लक्ष्मण काविरगभार ने मई 2000 में भारत की यात्राएँ की। इन यात्राओं के दौरान भारत ने

आर्थिक संबंधों में सुधार को आगे बढ़ाते हुए कुछ आर्थिक सहायता व कई वस्तुओं के आयात-निर्यात को सुगम बनाने के प्रयास किए।

श्रीलंका के चुनावों के बाद रानिल विक्रमसिंह ने प्रधानमंत्री बनने के बाद जून 2002 में भारत की चार-दिवसीय यात्रा की। यह यात्रा श्रीमती कुमार तुंगा की अप्रैल में की गई यात्रा के तुरन्त बाद थी। विक्रमसिंह ने इस दौरान एल.टी.टी.ई. के साथ नार्वे के माध्यम से हो रही शान्तिवार्ताओं का ब्यौरा देने के साथ-साथ द्विपक्षीय विभिन्न मुद्दों पर चर्चा एवं सहयोग बढ़ाने की कोशिश की। इस समय दोनों देश के बीच एक सहयोग के ज्ञापन पर हस्ताक्षर हुए। जिसके द्वारा भारतीय तेल कार्पोरेशन (आई.ओ.सी.) को श्रीलंका के त्रिणकोमली बन्दरगाह पर तेल सुविधाओं के प्रयोग करने के साथ-साथ वहां के बाजारों में 100 खुद्रा केन्द्र खोलने की अनुमति मिल गई। द्वितीय भारत श्रीलंका को 100 मिलियन डॉलर का नरम शर्तों वाला ऋण देने हेतु भी तैयार हो गया। तृतीय, दोनों देश तमिनाडु एवं उत्तरी श्रीलंका से जोड़ने वाले जमीनी पुल (एडमज ब्रिज) बनाने की सम्भावनाओं का पता लगाने हेतु एक अध्ययन दल के गठन पर सहमत हो गए। इस प्रकार उपरोक्त समझौते के आधार पर दोनों के संबंधों में और प्रगाढ़ता आई।

जुलाई 2003 में श्रीलंका की मंत्री परिषद् ने संसद में नागरिकता सम्बन्धित नया विधेयक लाने की घोषणा की है जिस पर सत्ता पक्ष एवं विरोधी दलों से मध्य सहमति है। इसके अन्तर्गत वर्तमान में रह रहे। 1,68,141 भारतीय तमिलों को श्रीलंका की नागरिकता प्रदान की जायेगी। यदि यह कानून पास हो जाता है तो लम्बे समय से लम्बित भारतीय तमिलों की नागरिकता की समस्या समाप्त हो जायेगी, जिससे भारत-श्रीलंका संबंधों में सुधार होगा। वर्तमान में नार्वे की मध्यस्थता से चल रही श्रीलंका एल.टी.टी.ई. शान्ति वार्ता सफल हो जाती है तो काफी हद दोनों देशों के मध्य जातीयता का संघर्ष समाप्त हो जायेगा। इससे दोनों देशों समाप्त हो जायेगा। इससे दोनों देशों के संबंध को व्यापक आधार के साथ-साथ एक स्थाई निरोधक से राहत प्राप्त होगी।

उपरोक्त का यह आशय नहीं है कि अब दोनों देशों के मतभेद पूर्ण समाप्त हो गए हैं। बल्कि अभी भी कुछ विषयों पर दोनों को परस्पर विचार विमर्श करना अनिवार्य है। सर्वप्रथम, दोनों के आर्थिक संबंधों में असंतुलन बना हुआ है। जिसे दूर करना अति अनिवार्य है। श्रीलंका की ओर बढ़ता व्यापार एक संकट का सूचक है। व्यापार के विभित्रीकरण के साथ-साथ दोनों के मध्य व्यापार को अधिक तर्क संगत बनाना पड़ेगा। द्वितीय, दोनों देशों के मध्य तस्करी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। दोनों राष्ट्रों को समुद्री सीमा के खुलेपन की वजह से इनके मध्य कुछ अपराधिक तत्व तस्करी करते हैं। अन्ततः भारतीय तमिलों की समस्या भी कुछ समय पहले तक एक गम्भीर समस्या रही है। परन्तु वर्तमान कानून बनाने से काफी हद तक इस समस्या का समाधान हो जायेगा। अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं। कि विभिन्न उतार-चढ़ाव के बावजूद वर्तमान समय में दोनों देशों के संबंधों का ग्राफ सकारात्मक परिवर्तन की ओर बढ़ रहा है। यदि श्रीलंका में तमिलों के साथ शान्ति स्थापित हो जाती है तथा आर्थिक संबंधों में सुधार की प्रक्रिया जारी रहती है तो दोनों देशों के मधुर व स्थाई संबंधों की कामना की जा सकती है।

17.3.4 भारत-बांग्लादेश का संबंध (Indo-Bangladesh Relations)

भारत-बांग्लादेश संबंधों की पृष्ठभूमि न केवल दो पड़ोसी राष्ट्रों के मध्य संबंधों तक सीमित है, बल्कि बांग्ल-देश की उत्पत्ति में भारत की विशेष भूमिका के सन्दर्भ के कारण भी महत्वपूर्ण है। कई विशेषज्ञ तो बांग्लादेश के जन्म में भारत की इस भूमिका की तुलना 'दाई' की भूमिका से करते हैं। यद्यपि भारत ने सर्वप्रथम बांग्लादेश को पूर्ण आजादी से पहले ही 6 दिसम्बर 1971 को मान्यता प्रदान कर दी थी तथा 10 दिसम्बर 1971 को एक समझौता कर भारतीय सेना वा मुक्तिवाहिनी की एक संयुक्त कमान भी बना दी थी, तथापि थोड़े समय बाद ही शेख मुजीबुर्रहमान की मृत्यु के साथ स्थिति बदल गई। इस प्रकार दोनों के संबंधों में कई मुद्दों, विशेषकर गंगा के पानी के बंटवारे को लेकर, मतभेद भी उभर कर आये। इन दोनों के संबंधों का सुस्पष्ट अध्ययन हेतु तीन प्रमुख चरणों में आये

बदलावों के आधार पर किया जा सकता है जो इस प्रकार से है।

17.3.4.1 प्रमोदकाल (1971–1975)

भारत बांग्लादेश संबंधों का प्रथम चरण शेख मुजीबुर्रहमान के कार्यकाल (1971–1975) को माना जा सकता है जिसमें दोनों राष्ट्रों के मध्य अति घनिष्ठ संबंधों का विकास हुआ। राजनैतिक रूप से, भारत ने बांग्लादेश को आजाद कराने हेतु ही मदद नहीं दी, अपितु बाद में भी सहयोग जारी रहा। 1972 में ही दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों ने एक दूसरे के यहां सदभावना यात्राएं की। 19 मार्च 1972 को दोनों के बीच 25 वर्षीय मित्रता व सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। विदेश नीति के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में भी दोनों के दृष्टिकोणों में काफी समानताएं देखने को मिली। इसके अतिरिक्त, 1977 की भारत–पाक शिमला वार्ताओं में भी भारत ने बांग्लादेश के साथ पूर्ण सहयोग प्रकट करते हुए उसे सभी कार्यवाहियों से अवगत रखा। युद्धबन्दियों के सन्दर्भ में भारत–पाक समझौते (1973) व भारत–पाक बांग्लादेश समझौते (1974) के द्वारा भी बांग्लादेश में सामान्य स्थिति बहाल करने के मित्रतापूर्ण प्रयास किए। अन्ततः 18 अप्रैल 1975 को एक अंतरिम समझौते द्वारा फरक्का विवाद सुलझाने का प्रयास किया। आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होते ही बांग्लादेश को 25 करोड़ रुपये के माल व सेवाएँ प्रदान करने के वचन के साथ–साथ 50 लाख पाँड की विदेश मुद्रा का ऋण दिया जिसकी अदायगी 5 वर्ष बाद 15 किस्तों में देने का प्रावधान किया। 1974 में दो आर्थिक एवं तीन कर्ज संबन्धित समझौते द्वारा भारत ने बांग्लादेश को 41 करोड़ के कर्ज दिए। भारत बांग्लादेश में चार संयुक्त उद्यम लगाने पर सहमत हो गया। संयुक्त जुट आयोग की स्थापना तथा तस्करी रोकने के उपायों पर दोनों के बीच सहमति व्यक्त हुई।

सांस्कृतिक सहयोग हेतु भी 1972 के समझौते के माध्यम से दोनों देशों के बीच शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में आदान–प्रदान हेतु आम सहमति बनी। शिक्षण सामग्री, पुस्तक–पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं आदि के प्रकाशन सम्बन्धित सहयोग को विकसित करने को भी प्रोत्साहन दिया। उपरोक्त मधुर संबंधों के साथ कुछ विरोधी दलों ने भारत के बारे में भ्रामक प्रचार भी किया। बांग्लादेश के विदेश मंत्री ने भी अपने देश को दक्षिणपूर्व एशिया का भाग कहा। लेकिन विरोध के स्वर अधिक नहीं थे तथा न ही बहुत प्रभावी। परन्तु शेख मुजीबुर्रहमान की असामयिक हत्या ने बांग्लादेश की विदेश नीति, विशेषकर भारत–बांग्लादेश संबंधों को पूर्ण रूप से बदल दिया।

17.3.4.2 उतार–चढ़ाव का दौर, 1975–1995

यह दौर दोनों देशों के मध्य मतभेदों का काम ही रहा। कुछ वस्तुनिष्ठ एवं कुछ व्यक्तिपरक कारणों के कारण दोनों देशों के मध्य तालमेल का अभाव रहा। इस नकारात्मक संबंधों हेतु कई प्रमुख कारण उत्तरदायी रहें—प्रथम, इस काल में ज्यादातर सरकारें मुजीबुर्रहमान के विरोधी गुटों की रही इसलिए उनकी विदेश नीति भी इनके विरोधी गुटों की रही इसलिए उनकी विदेश नीति भी इनके विरोधी स्वरूप वाली रही। द्वितीय, इस काल में बांग्लादेश की सरकारों का झुकाव पाकिस्तान से संबंध सुधारने पर भी लगा रहा। तृतीय—1970 व 1980 के दशकों में भारत की बढ़ती हुई सैन्य शक्ति के कारण भी वह इसे खतरे में देखने लगा। अन्तः देश की आन्तरिक राजनैतिक गतिविधियों के सन्दर्भ में भी कई बार सरकारों को भारत विरोधी नीतियां अपनानी पड़ी।

इस कार्यकाल में उतार चढ़ावों में प्रमुख रूप से कुछ विवादों की भूमिका भी रही। सर्वप्रथम, गंगा के पानी के बटवारे को लेकर फरक्का बाँध दोनों के मतभेदों का प्रमुख कारण बना। इस सन्दर्भ में 1975 में दोनों देशों के मध्य एक अल्कालीन समझौता हुआ, फिर बाद में 29 सितम्बर 1977 को जनता दल की सरकार ने एक दीर्घकालीन समझौता हस्ताक्षरित किया। उस समय ऐसा लगा कि शायद अब यह विवाद समाप्त हो गया है। यह स्थिति 1982 तक चली, इसके बाद बांग्लादेश द्वारा आपत्ति करने पर इस समझौते का संशोधित रूप लागू हुआ। परन्तु 1988 में मतभेदों के चलते दोनों देशों के मध्य 1996 तक कोई समझौता नहीं रहा।

भारत व बांग्लादेश के मध्य कुछ अन्त क्षेत्रों के विषय को लेकर भी विवाद रहा है। दो अन्तः क्षेत्र दाहाग्राम व अंगरपोटा के क्षेत्र में है परन्तु उन्हें बांग्लादेश से जोड़ने का कोई मार्ग नहीं था। इस हेतु बांग्लादेश को 1982 में 182×185 मीटर का तीन बीघे का गलियारा दिया गया। परन्तु मामला कोर्ट में जाने से लम्बीत पड़ गया और अन्तः यह समस्या 26 जून 1992 को भारत सरकार द्वारा बांग्लादेश को सौंपने के बाद हल हुई। इसके अतिरिक्त, चकमा शरणार्थियों, तस्करी, अवैध नागरिकों का भारत में रहना आदि कई ऐसे मुद्दे रहे जिसके कारण इस काल में दोनों के संबंध सामान्य नहीं बन पाये। दिसम्बर 1992 में बाबरी मस्जिद ध्वंस की प्रतिक्रिया भी बांग्लादेश में बड़ी तीव्र हुई। यद्यपि 1985 में दक्षेस की स्थापना से दोनों देशों को करीब आने के अवसर मिले, परन्तु इससे भी उत्पन्न सामीप्य दोनों देशों के रिश्तों को मित्रता में बदलने हेतु सक्षम नहीं रहा। यद्यपि दोनों के मध्य कहीं-कहीं तनाव में अवश्य कमी आई, परन्तु मुबीजबुर्हमान काल जैसी मित्रता की पराकाष्ठा देखने को नहीं मिली।

17.3.4.3 नई शुरुआत, 1996–2020

1996 में बांग्लादेश में शेख हसीना वाजिद (मुजीबुर्हमान की बेटी) की सरकार तथा भारत में संयुक्त मोर्चा की सरकार के आने से दोनों देशों के संबंधों में भी महत्त्वपूर्ण बदलाव आये। दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों ने एक दूसरे की पात्रा की तथा सद्भावनापूर्वक फारक्क जल विवाद का निपटारा कर दिया। 12 दिसम्बर 1996 को हस्ताक्षरित इस 12-सूत्री 30 वर्षीय संधि के द्वारा 1 जनवरी से 31 मई तक के दोनों के बीच गंगा के पानी का बंटवारा सुनिश्चित कर दिया। इसके अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया कि यदि पानी का बहाव 70,000 क्यूसेक या इससे कम होगा तो दोनों देश समान बँटवारा करेंगे। यदि 70,000 से 75,000 होगा तो बांग्लादेश 35,000 क्यूसेक लेगा व बाकी पानी भारत के पास रहेगा। अन्तिम रूप में, बहाव, 75,000 क्यूसेक या अधिक होने पर 40,000 क्यूसेक भारत लेगा तथा बचा हुआ पानी बांग्लादेश को दे देगा। इस प्रकार से इस समझौते के आधार पर एक गहन समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाल लिया गया। यद्यपि दोनों ओर के नागरिकों एवं विश्लेषणकर्ताओं द्वारा आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाते रहें हैं। परन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखे तो यह दोनों के लिए लाभकारी रहा।

इसी समय में 'गुजरात सिद्धान्त' तथा दक्षिण एशिया व दक्षिण पूर्व में बांग्लादेश, श्रीलंका व भारत के रास्ते म्यांमार व थाईलैण्ड की ओर बढ़ते सहयोग से इन देशों में और नजदीकियां विकसित हुईं। लेकिन कुछ मुद्दों को लेकर मतभेद आज भी बरकरार है। सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा अवैध रूप से भारत में रह रहे बांग्लादेशियों का है। इसके अतिरिक्त, पूर्वी राज्यों की ओर से सीमांकन का मुद्दा भी गहन है। यह विशेष सन्दर्भ में बांग्लादेश द्वारा भारतीय सीमा सुरक्षा बल के दो जवानों को मौत के घाट उतार देने से और गरमा गया। इसके अतिरिक्त, पूर्वी राज्यों के उग्रवादी संगठनों को बांग्लादेश में शरण देना एवं उनके प्रशिक्षण शिवर चलाने से दोनों के बीच तनाव और बढ़ गया है। उग्रवाद के मुद्दे पर भी दोनों के रूख में अन्तर हैं, विशेषकर मुस्लिम कट्टरवाद को लेकर। बांग्लादेश में आन्तरिक राजनीति, विशेषकर चुनावों के संदर्भ में, ने भी दोनों के संबंधों में गिरावट लाने का कार्य किया है। अन्तः दोनों के मध्य स्थित 4095 किला लम्बी सीमा रेखा का आकलन नहीं अपितु पूर्णतया रोकथाम के इन्तजाम करना भी आवश्यक है क्योंकि इसने कई जटिल समस्याओं को जन्म दिया है।

अतः भविष्य में दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों हेतु इन्हें संकीर्ण दृष्टिकोणों को त्याग कर सकारात्मक रूख अपनाना होगा। दोनों देशों को दूरगामी द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं विश्व सन्दर्भ के बृहद् दायरे में आकर कार्य करना होगा। वर्तमान में बढ़ती हुई आर्थिक सहयोग की आवश्यकता को समझना होगा। दोनों देशों के जन मानस को करीब लाना होगा। इस दृष्टि से कलकता-ढाका बस योजना एक कारगर कदम है। आवश्यकता दोनों देशों के राजनीतिज्ञों को संवेदनशील एवं विवेकपूर्ण नीतियों का अनुसरण करने की है। यद्यपि दोनों के मध्य कोई महत्त्वपूर्ण निरोधक तत्व नहीं है, तथापि वर्तमान सम्बन्धों को सही प्ररिप्रेक्ष्य में ढालने की आवश्यकता है।

17.3.5 भारत-नेपाल संबंध

भारत व नेपाल के बीच गहन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व भौगोलिक समानताओं के साथ-साथ 1700 किलोमीटर की खुली सीमाएँ हैं। जहाँ एक ओर नेपाल भारत के लिए अति महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति वाला देश है, वहीं दूसरी ओर नेपाल का भू-बद्ध राष्ट्र होना इसे काफी हद तक भारत पर निर्भर बना देता है। द्विपक्षीय स्थिति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव भी इस क्षेत्र पर देखने को मिलता है। अतः दोनों के रिश्तों में उतार-चढ़ाव मिलते हैं जिनका आकलन निम्न चरणों में किया जा सकता है।

17.3.5.1 मित्रतापूर्ण प्रारम्भ (1947-55)

भारत-नेपाल संबंधों का आरम्भ सुखद एवं मैत्रीपूर्ण तरीके से हुआ। दोनों के मध्य इस प्रकार के संबंधों हेतु कई कारक जिम्मेदार रहे— प्रथम, दोनों के मध्य 1947 में मित्रता की नई संधि होने तक 'यथास्थिति' बनाए रखी तथा 1923 की अंग्रेजों के काल की संधि को जारी रखा। द्वितीय, स्वतंत्र भारत की सेना में गोरखा लोगों की भर्ती पहले की भांति जारी रही। तृतीय, नेपाल के संविधान निर्माण में सहायता हेतु भारतीय राजनीतिज्ञ श्री प्रकाश को उनकी मदद हेतु भेजा। चतुर्थ, 1950 में भारत-नेपाल मैत्री संधि पर हस्ताक्षर हुए। पंचम, भारत ने नेपाल की शांति व सुरक्षा हेतु "सैन्य चौकिया स्थापित की। षष्ठ, नेपाल में राणाशाही के अंत में भी भारत ने सहयोग प्रदान किया। सप्तम, भारत ने नेपाल की सुरक्षा को भारतीय सुरक्षा व्यवस्था का अंग ही माना। अन्ततः भारत ने नेपाल को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता दिलाने हेतु केवल प्रयास ही नहीं किए अपितु 1955 में उसे यह सदस्यता भी दिलवाई।

इन कारणों से दोनों देशों में घनिष्टता बन गई, इसलिए भारत ने नेपाल की आर्थिक, विज्ञान एवं सैन्य क्षेत्रों में सहायता करनी शुरू कर दी। उदाहरणस्वरूप, भारत ने नेपाल हेतु 37 करोड़ की लागत से कोसी नदी पर बांध बनवाया, जिससे नेपाल को मुफ्त बिजली एवं सिंचाई की सुविधाओं की आपूर्ति कराई। भारत के प्रति उदगार व्यक्त करने हेतु 1955 में नेपाल के महाराज ने भारत की यात्रा भी की। अतः यह युग दोनों के मधुर संबंधों का समय रहा।

17.3.5.2 परिवर्तन का युग (1955-62)

इस युग में नेपाल का चीन की ओर झुकाव होने के कारण भारत से संबंधों में परिवर्तन आने शुरू हो गए। भारत ने आर्थिक एवं अन्य सहायता व सहयोग के माध्यम से इन संबंधों में आई गिरावट को रोकने के प्रयास भी किए, परन्तु सफल नहीं हो सका। इन परिवर्तित संबंधों हेतु शायद भारत व नेपाल दोनों ही उत्तरदायी थे। भारत द्वारा (1954) चीन के साथ व्यापारिक संधि में तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र को चीन का हिस्सा मान लेने से शायद नेपाल को आशंका होनी शुरू हो गई। दूसरी ओर अब नेपाल को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता मिल चुकी थी सो वह अकेले भारत की ओर ही झुकाव न करके अपने रिश्तों को दोनों देशों के मध्य संतुलित रखना चाहता था।

नेपाल के चीन की ओर बढ़ते कदमों की झलक उसकी विभिन्न नीतियों से स्पष्ट हो जाती है। प्रथम, नेपाल के प्रधानमंत्री ने 1956 में चीन की यात्रा की। द्वितीय, नेपाल व चीन के बीच 20 सितम्बर 1956 को मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए गए। तृतीय, चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई ने भी 1957 में नेपाल की यात्रा की। चतुर्थ, 5 अक्टूबर 1961 को चीन व नेपाल के बीच सीयमा समझौते पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें भारत की कोई सलाह नहीं ली गई। अन्ततः, चीन-नेपाल समझौते के कारण चीन ने ल्हासा से काठमाडू तक न केवल सड़क तैयार कर ली, अपितु नेपाल को सैन्य व आर्थिक सहायता भी देना प्रारम्भ कर दिया।

नेपाल के मधुर होते चीन संबंधों से भी अधिक आश्चर्य भारत को तब हुआ जब महाराजा महेन्द्र ने बी.पी. कोईराला की प्रजातांत्रिक तरीके से चुनी सरकार को 15 दिसम्बर 1960 को भंग कर दिया। यद्यपि भारत-नेपाल के राजनैताओं ने परस्पर यात्राएँ भी की, परन्तु नेपाल की विदेश नीति में कोई बदलाव नहीं आया। राजा महेन्द्र ने

सितम्बर 1961 में चीन की भी यात्रा की। दोनों के संबंधों का निम्नतम स्तर जब आया तब 1962 में भारत-चीन युद्ध में पूर्णरूप से तटस्थ रहा तथा चीन की किसी भी कार्यवाही की निंदा की। अतः यह युग भारत-नेपाल की बजाय नेपाल-चीन मधुर संबंधों का युग था तथा लगभग इसी समय में भारत व चीन के रिश्तों में भी दरार आना आरंभ हो चुका था।

17.3.5.3 नये समीकरणों का युग (1963-71)

भारत-चीन युद्ध के दौरान नेपाल के रवैये को देखकर भारत ने इस ओर अधिक संवेदनशीलता दिखाना शुरू कर दिया। इस कार्यकाल में भारत के सभी प्रमुख राजनेताओं ने नेपाल का दौरा कर दोनों के मध्य उपजी गलतफहमियाँ को दूर करने के प्रयास किए। अब नेपाल की उदारता से सहायता करते हुए वहाँ के ढाचागत विकास पर जोर दिया। उदाहरण के रूप में 1964 में भारत ने 9 करोड़ की लागत से सुगौली ओश्वरा सड़क निर्माण किया, काठामांडू-रक्सौल सड़क निर्माण को मंजूरी दी, तथा कोसी योजना को अपने खर्चे पर पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त अब भारत ने दोनों के मध्य मतभेद वाले मुद्दों को भी ज्यादा तूल नहीं दी।

दूसरी ओर नेपाल के व्यवहार में भी बदलाव आया तथा पूर्णतयः चीन का पक्षधर नहीं रहा। परन्तु कुछ मुद्दों पर विवादास्पद स्थिति अवश्य बनी रही। प्रथम, नेपाल-चीन सैन्य चौकियों से भारतीय तकनीकी समूह के सैनिकों को वापस बुलाने हेतु कहना। द्वितीय, भारत-नेपाल मैत्री संधि (1950) पर आपत्तियाँ उठाई गई अन्ततः 1970 से ही व्यापार एवं पारगमन संधि के बारे में विवाद पनपा। परन्तु इन सबके बावजूद नेपाल की भू-राजनैतिक एवं सामरिक स्थिति देखते हुए भारत ने इन विषयों पर नरम रूख अपनाते हुए नेपाल से संबंध बनाये रखने व सुधारने के प्रयास किए। नेपाल की भी बाध्यता यह थी कि वह भी पूर्णरूप से चीन की ओर नहीं जा सकता था। अतः दोनों के मध्य अनुकूल संबंध बने रहे।

17.3.5.4 मतभेदों के बावजूद सामान्य संबंध (1972-79)

यह युग दक्षिण एशिया में दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ शुरू हुआ। 1971 में भारत-सोवियत मैत्री एवं भारत-पाक युद्ध में भारत की विजय ने इसे एक मजबूत क्षेत्रीय शक्ति बना दिया। दूसरी ओर 1972 में महाराजा महेन्द्र के स्थान पर उसके बेटे वीरेन्द्र ने राजगद्दी सम्भाली जो उदार एवं प्रजातांत्रिक प्रवृत्ति के राजा थे। इसके परिणामस्वरूप दोनों के बीच मधुर संबंधों का विकास अनिवार्य हो गया।

इसी बीच 1975 में सिक्किम को भारत में मिलाने तथा नेपाल को तेल व पेट्रोल का कोटा न देने से दोनों के बीच तनाव का माहौल बन गया था। परन्तु जनता दल के शासक के दौर (1977-79) में पुनः मधुर संबंध बने क्योंकि उनकी विदेश नीति के अन्तर्गत पड़ोसियों से मित्रता पूर्वक संबंधों के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। परन्तु इस समय का महत्वपूर्ण मतभेद नेपाल को 'शांति क्षेत्र' घोषित करने को लेकर रहा है। जहाँ नेपाल का तर्क था कि भू-बद्ध राज्य होने के कारण उसके आर्थिक विकास हेतु अनिवार्य हैं, वहीं भारत इस अवधारणा को संकीर्णता के आधार पर मना करता आया है। अतः इस युग में जहाँ 'शांति क्षेत्र' की घोषणा व सिक्किम के भारत में विलय को लेकर मतभेद रहें, वहीं पर आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्रों में संबंध सामान्य बने रहे।

17.3.5.5 उतार-चढ़ाव परन्तु सुखद संबंध (1980-2003)

1980 के दशक के घटनाक्रम से दोनों देशों के बीच सुखद संबंधों होने का आभास हुआ। सर्वप्रथम, 1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैन्य हस्ताक्षेप को लेकर दोनों देशों के बीच आम सहमति रही कि इस मसले को राजनयिक व राजनैतिक तरीके से हल करना चाहिए था। द्वितीय, दोनों देशों ने 1978 की व्यापारिक एवं पारगमन की संधि को 1983 में पुनः 5 वर्षों हेतु मंजूरी प्रदान कर आर्थिक संबंधों को और सुदृढ़ बनाया। तृतीय, इन्हीं सुधरते संबंधों के परिचायक के रूप में भारत से राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी (1981) विदेश मंत्री नरसिम्हाराव (1992) व

राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह (1986) ने नेपाल की तथा नेपाल से महाराजा वीरेन्द्र (1980 व 1985) व प्रधानमंत्री सूर्य बहादुर थापा (1983) ने भारत की यात्राएँ की।

परन्तु 1980 के दशक के अन्त तक आते-आते 'शांति क्षेत्र' पर असहमति के साथ-साथ नेपाल द्वारा हथियारों के आयात, परमिट व्यवस्था लागू करना, नागरिकता की समस्या, व्यापार व पारगमन संधि पर विवाद आदि विषयों पर भी दोनों देशों के मध्य मतभेद बने हुए हैं। 1989 में भारत द्वारा दोनों के मध्य व्यापार व पारगमन की संधि को भारत द्वारा पुनः न लागू करने से बड़ा संकट खड़ा हो गया था। नेपाल की अर्थव्यवस्था चरमराने के साथ-साथ जनजीवन पर भी गहन प्रभाव पड़ा। लेकिन 1990 में संयुक्त मोर्चा की सरकार के आने से स्थिति सुखद बन गई। भारत ने 1991 में एक की बजाय दो संधियों पर हस्ताक्षर किए जिनके अन्तर्गत व्यापार एवं पारगमन ने अलग-2 दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए गए। बाद में प्रधानमंत्री कोईराला (1991) व नरसिम्हाराव (1992) ने एक दूसरे के देशों में यात्रा कर संबंधों को मजबूती प्रदान की।

1994 में नेपाल में साम्यवादी दल की सरकार आने के बाद संबंधों में शंका उठी, लेकिन वह भी निरर्थक सिद्ध हुई। 1997 में 'गुजराल सिद्धान्त' की स्थापना से दोनों देशों में और सौहार्द बढ़ा। इसी काल में महाकाली परियोजना, पंचेश्वर परियोजना, टनकपुर बिजली घर व टनकपुर तथा शारदा बैरेज के निर्माण पर सहमति व्यक्त की गई। इसके अतिरिक्त, नई हवाई सेवाओं, व्यापार, संचार, पर्यटन आदि के संदर्भ में भी समझौते एवं सहमतियां प्रकट की गईं। नेपाल को पूर्व प्रदत्त राधिकापुर के अतिरिक्त फुलवारी होकर बांग्लादेश के माध्यम से एक और व्यापारिक मार्ग की सुविधाएँ प्रदान की गईं।

इन सभी का यह अर्थ नहीं था कि अब कोई मतभेद नहीं रहे। सबसे महत्त्वपूर्ण मतभेद नेपाल में उग्रवादियों को शरण देने के बारे में चिन्ता का है। भारत का मानना है कि पाकिस्तान की गुप्तचर एजेंसी आई.एस.आई. की भारत विरोधी गतिविधियाँ भी नेपाल में सक्रिय हैं। दिसम्बर 1999 के आई.सी. - 814 यात्री विमान का काठमांडू से कंधार ले जाना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। द्वितीय 1991 की व्यापार संधि के दुरुपयोग से भी भारत को चिन्ता बनी हुई है। इसके प्रावधान का दुरुपयोग कर नेपाल के व्यापारी तीसरे देश से माल मंगा कर भारत की मंडियों में कर-मुक्त होने के कारण आसानी से भेज देते हैं। विदेश मंत्री जसवन्त सिंह की नेपाल यात्रा के दौरान अगस्त 2001 में नेपाल चाहता था कि यह संधि स्वतः अगले पांच साल जारी रहे। तृतीय, 2001 के प्रारम्भ में सम्पूर्ण राजवंश की नृशंस हत्या के बाद आन्तरिक स्थिति, विशेषकर माओवादियों की गतिविधियों, से भारत की चिन्ताएं बढ़ गई हैं। लेकिन इन मतभेदों के बावजूद भी दोनों देशों के मध्य वर्तमान में कोई रुकावट वाला अवरोधक नहीं है। अतः आशा है कि द्विपक्षीय आधार पर दोनों के रिश्तों में सुधार जारी रहेगा। क्षेत्रीय आधार पर भी जनवरी 2002 में हुई दक्षेस की बैठक में आतंकवाद के मुद्दे पर आम सहमति बनी जिससे इनके बीच एक बड़ी रुकावट समाप्त हो जायेगी। विश्व स्तर पर आये बदलाव व वर्तमान सरकार की नीतियां भी पड़ोसियों से मधुर संबंधों में विश्वास रखती है। बाकी आने वाला समय निर्धारित करेगा। लेकिन तथ्यों के आधार पर भविष्य में दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों की आशा की जा सकती है।

17.4 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत अपनी विदेश नीति में हमेशा अपने पड़ोसियों को महत्त्व देता है। परन्तु राजनैतिक विरासत, बाह्य हस्ताक्षेप, भौगोलिक स्थिति, विकास में विभिन्नता, सैनिक, क्षमताओं में अलग स्थिति आदि ऐसे कारण रहें हैं। जिनके कारण ज्यादातर पड़ोसियों से मधुर संबंधों का अभाव रहा है। भारत द्वारा की गई सभी पहल का बहुत साकारात्मक प्रभाव देखने को मिला। मोदी शासन में 'पड़ोसी प्रथम' तथा अति सक्रियता से भी अधिक बदलाव नहीं आये। अतः भारत व पड़ोसियों के मध्य उतार-चढ़ाव वाले संबंध ही आने वाले समय में बने रहेंगे।

1. **अन्तिम चरण (2014–2020)** – मोदी के शासन काल का प्रारम्भ पड़ोसियों को महत्त्व देने से हुआ। इसीलिए मोदी के शपथ ग्रहण समारोह में दक्षिण-एशिया के पड़ोसी देशों को आमन्त्रित किया गया। इसके अतिरिक्त मोदी ने अपनी विदेश नीति में 'पड़ोसी प्रथम' का नारा दिया। मोदी स्वयं भूटान, नेपाल, पाकिस्तान व श्रीलंका गए। विदेश मंत्री ने भी इन राज्यों का दौरा किया। बहुत से पुराने विवादों को सुलझाने व नवीन समझौतों पर हस्ताक्षर किए। इस प्रकार पड़ोसी राज्यों के साथ यथार्थवाद एवं व्यवहारिकता पर आधारित अति सक्रियता की नीति अपनाई है। यह नीति से किस पर चीन के बढ़ते प्रयास को रोकना तथा भारत के साथ गर्म जोशी वाले संबंध स्थापित करेगी यह केवल समय बतायेगा। क्योंकि भूटान व बांग्लादेश को छोड़कर अभी-अभी कई पड़ोसियों से संबंधों में अपेक्षित मधुरता का अभाव है।
2. **मोदी के शासन काल में (2014–2020)** – चीन भारत की विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण स्थान पर रहा। मोदी व चीन के राष्ट्रपति के बीच औपचारिक एवं अनौपचारिक स्तर पर काफी मुलाकाते हुई हैं। चीन आज भारत का व्यापार में नम्बर एक देश भी है। परन्तु दोनों के रिस्तों में मधुरता का अभाव अभी भी है। दोनों के बीच सीमा विवाद, सीपेक कार्यक्रम, बेल्ट एण्ड रोड पहल, सिल्क रूह, पर्ल ऑफ सी, साऊच चाईना सी आदि को लेकर टकराव के कई बिन्दू उपस्थित हैं। भारत-अमेरिका सामरिक साझेदारी एवं हिन्द-प्रशान्त सागर में भारत का बढ़ता तनाव भी दोनों के बीच टकराव के कारण है। अतः चीन के साथ रिस्तों में निरन्तरता अधिक व बदलाव कम देखने को मिल रहा है।
3. **मोदी के कार्यकाल में** – पाकिस्तान से बातचीत के दौर प्रारम्भ होने की सम्भावनाएं बढ़ी, लेकिन ज्यादा कुछ नहीं हुआ। नवाज शरीफ व मोदी के बीच मित्रता के सेतु के प्रयास हुए, परन्तु पठानकोट व उरी की घटनाक्रम तथा भारत द्वारा सर्जिकल स्ट्राइक से स्थिति पहले की तरह बन गई। ईमरान खान द्वारा करतापुर कोहिडोर के खोलने से भी स्थिति में ज्यादा बदलाव नहीं आया, क्योंकि पाकिस्तान सेना द्वारा नियन्त्रण रेखा के उल्लंघन व गोलाबारी की घटना का सिलसिला अभी नहीं थमा है। अतः दोनों के रिस्तों में कोई सकारात्मक बदलाव की सम्भावनाएँ अभी काफी कम हैं।
4. मोदी सरकार के गठन के बाद श्रीलंका से भी संबंध सुधारने के भरसक प्रयास हुए। श्रीलंका के राष्ट्रपति ने 2015 में भारत की यात्रा की। मोदी ने भी 2015 व 2017 में श्रीलंका की यात्रा की। दोनों के बीच परमाणु असैनिक सहयोग तथा मटाला एयरपोर्ट बनाने पर भी समझौता हुआ परन्तु श्रीलंका में चीन के प्रभाव को देखते हुए अभी यह जल्द बाजी होगी कि भारत व श्रीलंका के संबंध प्रगाढ़ हो रहे हैं।
5. मोदी के शासन काल में बांग्लादेश के संबंधों में अप्रत्याशित बदलाव देखने को मिला। दोनों के बीच 2015 में लैंड बाऊडरी समझौते से काफी मधुर संबंध विकसित हुए हैं। दोनों के बीच बस सेवाओं के साथ-साथ तेल व गैस पाईपलाइन से सम्बन्धित समझौते हुए हैं। इन दोनों के सम्बन्धों में सुधार अवश्य हुआ है, लेकिन अभी भी कुछ विवादास्पद मुद्दे उपस्थित हैं। इसके साथ-साथ चीन के बढ़ते प्रभाव को भी नहीं नकार सकते। दोनों के रिस्तों में प्रगाढ़ता बढ़ेगी या नहीं यह केवल समय ही बता पायेगा।
6. मोदी ने अपने कार्यकाल में नेपाल से रिश्ते सुधारने के अत्याधिक प्रयास किए। इस छोटे से कार्यकाल में मोदी ने नेपाल की चार बार यात्राएं की। नेपाल ये सर्वोच्च न्यायालय के भवन के उद्घाटन के साथ-साथ हाइड्रोइलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट पर भी हस्ताक्षर किए। नेपाल को US \$1 बिलियन के कर्ज के साथ-साथ एक HAL ध्रुव हेलिकोप्टर भी दिया। काठमाण्डू में ट्रोया केन्द्र का उद्घाटन भी किया। परन्तु आज भी दोनों के मध्य विवाद के कई बिन्दु मौजूद हैं। साथ ही चीन-नेपाल में बढ़ती मित्रता भी भारत में शंका पैदा करती है। इसीलिए दोनों के संबंध अभी भी उतार-चढ़ाव वाले ही प्रतीत होते हैं।

17.5 प्रश्नावली

1. भारत की पड़ोसियों के प्रति विदेश नीति के स्वरूप का आंकलन कीजिए।
2. भारत-चीन संबंधों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. भारत-पाकिस्तान के बीच विवाद के मुख्य बिन्दुओं का वर्णन कीजिए।
4. भारत-भूटान संबंधों की व्याख्या कीजिए।
5. भारत व नेपाल के बीच सहयोग व टकराव के बिन्दुओं का वर्णन कीजिए।
6. भारत-श्रीलंका के ऊभरते संबंधों पर टिप्पणी कीजिए।
7. भारत-बांग्लादेश के मध्य वर्तमान में हुई साकारात्मक पहल का वर्णन कीजिए।
8. मोदी की पड़ोस नीति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
9. भारत के अपने पड़ोसियों से मधुर संबंध विकसित न होने वाले कारणों का वर्णन कीजिए।

17.6 पाठन सामग्री,

1. आर.एस. यादव, सम्पूर्ण इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी इन दॉ 2000 ए.डी (नई दिल्ली, 1993)
2. आर.एस. यादव एवं सुरेश ढांडा, सम्पा०, इण्डियाज फॉरेन पालिसी : कंटम्प्रेरी ट्रेंडज, (नई दिल्ली, 2009)
3. आर.एस. यादव, भारत की विदेश नीति (दिल्ली, पियरसन, 2013)
4. आर.एस. यादव, इण्डियन फॉरेन पालिसी (दिल्ली, पियरसन, 2020)
5. डेविड एम.मलोने एवं अन्य, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंड बुक ऑफ इण्डियन फॉरेन पालिसी (नई दिल्ली, 2015)
6. राजीव सिकरी, चैलेंजीज एण्ड स्ट्रेटेजी : रिचिंकिंग इण्डियाज फॉरेन पालिसी (नई दिल्ली, सेज, 2013)
7. हर्ष वी.पंत, इण्डियन फॉरेन पालिसी : एन ओवरव्यू, (मानयेस्टरयूनि प्रैस, 2016)
8. सुमित गांगुली, इण्डियन फॉरेन पालिसी, (ओक्सफोर्ड यूनि०, प्रैस, 2015)
9. हर्ष वी.पंत, सम्पा०, न्यू डारेकसन इन इण्डियाज फॉरेन पालिसी : न्यौरी एण्ड प्रैक्सिस (केम्ब्रीज यूनि० प्रैस, 2018)
10. कान्ति बाजपेयी एण्ड हर्ष वी.पंत, सम्पा०, इण्डियन फॉरेन पालिसी : ए रीडर, (आम्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2013)
11. सुमित गांगुली, सम्पा०, ऐगोजिज दॉ वर्ल्ड, इण्डियन फॉरेन पालिसी सिंसा 1947, (आक्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2016)
12. डेविड एम. मलोने, जज दॉ ऐलिफेंट डांसर कम्प्रेरी इण्डियन फॉरेन पालिसी (ओक्सफोर्ड यूनि० प्रैस, 2014)